भारतीय आधुनिक शिक्षा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की एक त्रैमासिक पत्रिका है। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य है शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों, शैक्षिक प्रशासकों तथा शोधकर्ताओं को एक मंच प्रदान करना, शिक्षा के विभिन्न आयामों जैसे शिक्षादर्शन, शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा की समकालीन समस्याएं, पाठ्यक्रम एवं प्रविधि संबंधी नवीन विकास, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा का स्वरूप, विभिन्न राज्यों में शिक्षा की स्थिति आदि पर मौलिक तथा आलोचनात्मक चिंतन को प्रोत्साहित करना और शिक्षा के सुधार और विकास को बढ़ावा देना। लेखकों द्वारा व्यक्त किए गए विचार उनके अपने हैं। अतः ये किसी भी प्रकार परिषद् की नीतियों को प्रस्तुत नहीं करते इसलिए इस संबंध में परिषद् का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।

मूल्य एक प्रति : 8.50 रुपए   वार्षिक : 34.00 रुपए

भारतीय आधुनिक शिक्षा

वर्ष : 22 | अंक : 3 | जनवरी 2004

इस अंक में

क्रियात्मक गतिविधियों के माध्यम से बच्चों में संज्ञानात्मक विकास

❑ मंजीत सेन गुप्त

संज्ञान से तात्पर्य है जानना। यह वास्तव में एक सीखने और समझने की प्रक्रिया है। संज्ञान उन सभी मानसिक क्रियाओं का द्योतक है जिनके अन्तर्गत कल्पना, बोध, सोच, तर्क, चिन्तन तथा समस्या समाधान जैसी क्रियाओं का समावेश होता है। संज्ञानात्मक विकास को दूसरे शब्दों में मानसिक विकास की संज्ञा भी दी जा सकती है। वृद्धि और विकास में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव, घर और विद्यालय दोनों में, बच्चों के व्यवहार पर पड़ता है।

प्रारंभिक दो वर्षों में किसी बच्चे का संज्ञानात्मक विकास उसके शरीर तथा मांसपेशियों द्वारा किए गए कार्यों से संबंधित संवेदनाओं पर आधारित होता है। अपने परिवेश संबंधी सूचनाओं को वह अपनी इंद्रियों द्वारा तथा अपनी जन्मजात प्रतिक्रिया के माध्यम से प्राप्त करता है। वह अपने आसपास उत्पन्न होने वाली ध्वनियों, गतिविधियों तथा रंगों में होने वाले परिवर्तनों की ओर स्वतः आकर्षित होता है। इन प्राथमिक वर्षों में बच्चा अपनी आंखों से वस्तु का पीछा करता है तथा छिपी हुई वस्तुओं को उसी जगह पर ढूंढ़ता है जहां उन्हें पहले देखा गया था। वह अब कार्य-कारण संबंधों को भी समझने लगता है, उदाहरण के लिए वह चीखने को मां का ध्यान आकर्षित करने से जोड़ता है या किसी खिलौने की गति को ध्वनि उत्पादन से जोड़ता है।

दो वर्ष की आयु के आसपास बच्चे की कल्पना शक्ति के विकास की प्रक्रिया भी प्रारंभ हो जाती है। वह अभिनय या स्वांग भरने संबंधी खेलों में प्रवृत्त होने लगता है। वस्तुओं या लोगों के लिए वह प्रतीकों का प्रयोग करने लगता है। उदाहरण के लिए वह एक सन्दूक को खाट या मेज के रूप में प्रयोग कर सकता है, एक खिलौने को चलाकर उसे एक गाड़ी की तरह उपयोग में ला सकता है। खेल-खेल में बच्चा दूसरों की नकल करता है जैसे वह एक गुड़िया को वैसे ही सुलाने का अभिनय करता है जैसे मां उसे बिस्तर पर सुलाती है या फिर कुत्ते की तरह आवाज निकाल कर या चाल बनाकर स्वांग करता है। इसी के साथ-साथ बच्चा भाषा के कौशलों को भी सीखने लगता है।

जैसे-जैसे बच्चे की कल्पना और भाषा का विकास होता है वह किसी चित्र में दिखाई गई वस्तुओं या आकृतियों को पहचानने लगता है। अनुभव के आधार पर वह यह समझने लगता है कि कुछ घटनाएं जैसे दिन-रात नियमित रूप से दोहराए जाते हैं साथ ही अब बच्चे में सबेरा, शाम, रात के माध्यम से समय की अभिधारणा का विकास होने लगता है। इस अवधि में संख्या-पूर्व अभिधारणाओं का विकास भी प्रारंभ हो जाता है। बच्चा, बड़ा-छोटा, अधिक-कम, लम्बा-ठिगना या छोटा जैसी अभिधारणाओं को समझने लगता है। संख्या की अभिधारणाओं जैसे एक नाक, दो आंखें, दो पैर आदि की समझ भी उसमें आने लगती है जो आगे आने वाली जोड़-बाकी जैसी क्रियाओं की नींव डालती हैं।

छः वर्ष की आयु के आसपास का बच्चा वस्तुओं या विचारों को उपयोगी वर्गों में विभाजित कर सकता है जैसे

वह वस्तुओं को आकार, आकृति, रंग आदि के आधार पर समूहों में बांट सकता है, वह लाल, हरे या नीले मनकों को पहचान कर एक-दूसरे से अलग कर सकता है। इसी प्रकार वह दानों या दालों को अलग-अलग आकृति, रंग या आकार के आधार पर पृथक-पृथक कर सकता है। सोचने की प्रक्रिया में भी वह अब अधिक व्यवस्थित और संगठित होने लगता है। बच्चों की चिंताधारा, संगठन, वर्गीकरण और समस्या समाधान की क्षमता में यह परिवर्तन उनके परवर्ती विकास के सोपान बन जाते हैं। बचपन में होने वाले संज्ञानात्मक विकास का जो सिलसिलेवार वर्णन जीन् पियाजे ने प्रस्तुत किया है उसमें बच्चों और उनके परिवेश के बीच अन्तःक्रिया पर विशेष बल दिया गया है। पियाजे के अनुसार कोई भी सामान्य बच्चा सीखने व समझने का जन्मजात गुण रखता है। वातावरण के साथ समायोजन की एक नैसर्गिक प्रवृति भी उसमें पाई जाती है। वह लगातार परिवेश के सम्पर्क में रहकर तथा उसके साथ पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के माध्यम से संसार की प्रकृति से परिचित होता है और उससे प्रभावशाली रूप से निपटने की दक्षता प्राप्त करता है। जिस प्रकार शारीरिक अवयव पौष्टिक आहार को आत्मसात् कर वृद्धि को प्राप्त होते हैं ठीक उसी प्रकार मानसिक या बौद्धिक तत्व अपना पोषण पर्यावरणीय उद्दीपकों से पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त करते हैं।

कुछ संज्ञानात्मक कौशल और उनका प्रोत्साहन

स्मृति– ईश्वर प्रदत्त स्मरण शक्ति के माध्यम से व्यक्ति विभिन्न तथ्यों, नामों तथा अन्य अनेक सूचनाओं को याद रखते हैं। पुनः स्मरण और पहचान स्मृति के दो पक्ष हैं। तथ्यों को स्मरण रखने के लिए लगातार अभ्यास या बार-बार दोहराना अत्यावश्यक हो जाता है। सीखने की प्रक्रिया में सभी इन्द्रियों का उपयोग पुनः स्मरण में सहायक सिद्ध होता है। यही कारण है कि बच्चों को सभी विषय क्रियात्मक गतिविधियों के माध्यम से सिखाने की प्रेरणा दी जाती है। स्मरण शक्ति की उन्नति में देखने, सुनने, छूने और महसूस करने की क्रियाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। समानता ढूंढ़ने या तुलना करने के कौशल का विकास स्मृति की प्रक्रिया को बढ़ावा देता है। बच्चों में जब किसी विषय के प्रति रुचि जागृत हो जाती है तो उनकी पुनः स्मरण योग्यता में वृद्धि होती है। विषय-वस्तु के प्रति बच्चों की रुचि तथा उनकी एकाग्रता को बनाए रखने के लिए सीखने की प्रक्रिया में उनका सक्रिय सहयोग होना आवश्यक है। बच्चों को दी जाने वाली सूचनाएं उनके लिए तभी अर्थपूर्ण बनती हैं जब इन्हें उनकी तात्कालिक आवश्यकताओं और परिवेश से जोड़ा जाए। सस्वर पाठ, स्मृति को बढ़ाने में कारगर सिद्ध होता है। पाठ की विषय-वस्तु आसान होनी चाहिए और विशेष रूप से उन भागों को जिन्हें बच्चे अक्सर भूल जाते हैं बार-बार दोहराया जाना चाहिए। यही स्मृति कल्पना, सृजन, तर्क, तथा अर्थ की जननी होती है।

सोचना, तर्क करना और समस्या समाधान– सोचने की प्रक्रिया में ऐन्द्रिक अनुभूतियां कच्चे माल का काम करती हैं। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त की गई इन सूचनाओं को अवबोधन के आधार पर संगठित किया जाता है। बच्चों में संज्ञानात्मक विकास एक लम्बी और धीमी प्रक्रिया है। यह कई अन्य पहलुओं जैसे सामाजिक, भावात्मक तथा शारीरिक विकास पर निर्भर करता है। शिक्षिकाओं को चाहिए कि वे बच्चों को छोटे और आसान निर्णयों को स्वयं लेने के लिए प्रोत्साहित करें जैसे कौन-सी वेशभूषा कब पहनें, किस गुड़िया या खिलौने से खेलें, दोपहर या रात्रि भोजन के लिए दिए गए विकल्पों में से कौन-सी खाद्य वस्तुओं को चुनें आदि।

तार्किक विकास की प्रतिक्रया में बच्चे किसी सुझाव, प्रस्ताव या क्रिया के विभिन्न पहलुओं को परखकर सर्वोचित हल तक पहुंचने की चेष्टा करते हैं। शिक्षिकाएं बच्चों के दैनिक जीवन की विभिन्न स्थितियों से संबंधित सामान्य समस्याओं को बच्चों के सम्मुख रखते हैं, उनका हल सुलझाने के लिए प्रेरित करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर संकेत भी देते चलते हैं। संज्ञानात्मक ज्ञान के लिए इंद्रियों का उद्दीपन न केवल स्मृति को अपितु अन्य कई संज्ञानात्मक कौशलों जैसे निरीक्षण, वर्गीकरण, क्रमिक सोच, समस्या समाधान तथा तर्क आदि के विकास में भी सहयोग प्रदान करता है।

बच्चों के संज्ञानात्मक विकास में शिक्षिकाओं की भूमिका

समुचित संज्ञानात्मक विकास के लिए यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है कि बच्चे वस्तुओं व सामग्रियों का स्वतंत्रतापूर्वक संचालन कर सकें तथा साथियों और अध्यापकों से घुल-मिल सकें। उन्हें ऐसे अवसर प्रचुर मात्रा में दिए जाने चाहिए जिनमें गतिविधियों की विविधता हो। मुक्त चिन्तन को बढ़ावा दिया जाए ताकि सृजनात्मक सोच का विकास संभव हो सके। दैनिक जीवन की समस्याओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि वे उन्हें विभिन्न कोणों से परखकर उनका निदान सुझा सकें। शिक्षिकाओं को समस्याओं का बना बनाया समाधान बच्चों के सामने कदापि पेश नहीं करना चाहिए बल्कि बच्चों को अपने-अपने ढंग से सोचकर नए-नए हलों तक पहुंचने में उनकी मदद् करनी चाहिए। किसी काम को करने में असफल होने पर शिक्षिका द्वारा बच्चों को कदापि तिरस्कृत नहीं किया जाना चाहिए। कक्षा में प्रत्येक बच्चे को प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। प्रत्येक बच्चा एक अनन्य व्यक्तित्व का स्वामी है, वह दूसरे से भिन्न है, भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचता है, भिन्न प्रकार से कार्य करता है अतः शिक्षिका को इन व्यक्तिगत भिन्नताओं का आदर करना चाहिए।

संज्ञानात्मक विकास के लिए कतिपय गतिविधियां

इन्द्रियों को उत्प्रेरित कर संज्ञानात्मक विकास में सहयोग देने के लिए बच्चों को शिक्षिका के निर्देशन में क्रियात्मक गतिविधियों में सामुहिक रूप से संलग्न करना लाभकारी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार की कतिपय गतिविधियों का वर्णन यहां दिया जा रहा है, जिन्हें शिक्षिकाएं आसानी से संगठित कर सकती हैं।



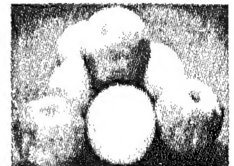
चित्र 1

फल और यातायात के साधनों का मिलान करना

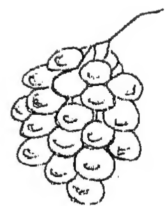
इस गतिविधि के लिए फलों जैसे आम, अमरूद, सेब, केला, अंगूर आदि तथा यातायात के साधनों जैसे बैलगाड़ी, साइकिल, बस, हवाई जहाज, रेल, नाव आदि के चित्रों वाले कार्ड लिए जाएंगे। बच्चे को आम का चित्र या बैलगाड़ी का चित्र दिखाकर कहें कि कार्डों के ढेर में से वह इन जैसे चित्र पहचान कर लाए। सही चित्र लाने पर प्रोत्साहित करें अन्यथा चित्र को पहचानने में मदद करें। इस प्रकार विभिन्न कार्डों का मिलान करवाएं।

अन्य अनेक गतिविधियां इसी आधार पर कराई जा सकती हैं जैसे सब्जियों, फूलों-पत्तियों, पालतू जानवरों, आकृतियों, रंगों, सिक्कों आदि का मिलान कराना।

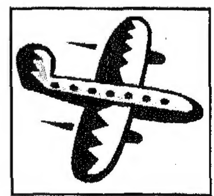


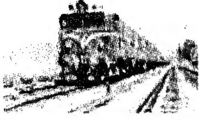














चित्र 2

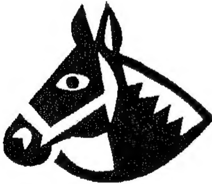
चित्र देखकर भेद पहचानो

ड्राइंग शीट पर लम्बी पट्टियां काटें। एक पट्टी पर सभी मेंढक और एक घोड़े का चित्र बना हो। दूसरी पट्टी पर सभी शेर और एक पक्षी का चित्र बना हो। तीसरी पट्टी पर सभी सेब के चित्र हों और एक केले का चित्र हो। चौथी पट्टी पर सभी आम के चित्र और एक सेब का चित्र हो आदि।

बच्चों को अर्द्धगोलाकार रूप में बिठाकर प्रत्येक पट्टी को बारी-बारी से दिखाएं और कौन-सा चित्र दूसरों से भिन्न है उसकी पहचान करवाएं। सही उत्तर देने पर प्रोत्साहित करें।











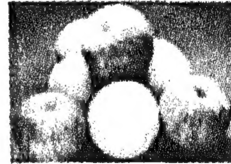


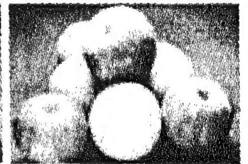


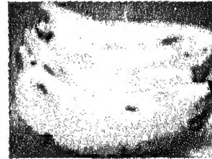


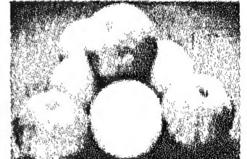


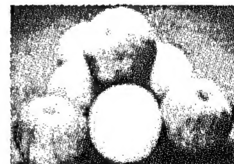


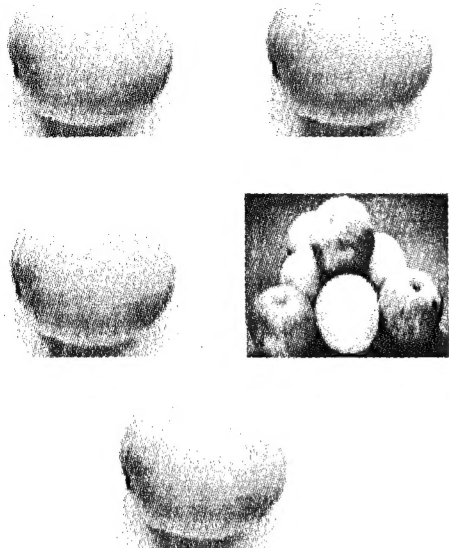








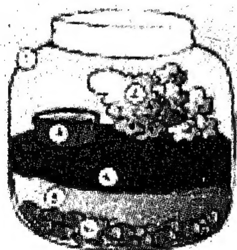




चित्र 3

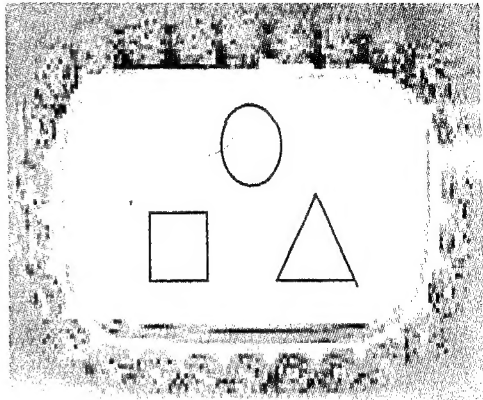
डूबने-तैरने वाली या हल्की-भारी वस्तुओं की जानकारी

एक नांद या तसले में पानी भरें। बच्चे कुछ वस्तुएं जैसे कागज का टुकड़ा, काई, कील, कंकड, पत्ती, पिन, पक्षी का पंख आदि पानी में डालकर यह जानकारी प्राप्त करेंगे कि कुछ वस्तुएं पानी पर तैरती हैं तथा अन्य डूब जाती हैं और जो वस्तु डूब जाएं वे भारी होती हैं तथा जो वस्तु तैरने लगें वे हल्की होती हैं।



चित्र 4

वर्गीकरण की कुशलता के विकास के लिए बच्चों द्वारा विभिन्न आकृतियों, रंगों, वस्तुओं, सब्जियों आदि को छांट कर पृथक-पृथक रखने के लिए दिया जा सकता है। अर्द्धगोलाकार रूप से बैठ कर बच्चे एक ट्रे में रखे कार्डों को निर्देशानुसार छांट कर वर्गीकृत करते हैं जैसे गोल, त्रिकोण, चौकोर, अण्डाकार कार्डों को अलग-अलग करना।



चित्र 5

गोलाकार वस्तुओं के चित्र जैसे थाली, प्लेट, रोटी, चकला, चूड़ी, साईकिल का पहिया आदि।

त्रिकोणाकार जैसे त्रिकोण पराठा, समोसा, साईकिल की सीट, जोकर की त्रिकोणाकार टोपी आदि।

चौकोर जैसे किताब, टेबिल, खिड़की, दरवाजा, आलमारी आदि।

इसी प्रकार अन्य गतिविधियां इसी आधार पर की जा सकती हैं जैसे रंगों को अलग-अलग छांटना लाल, पीला, नीला, हरा आदि।

विभिन्न पत्तियों को अलग-अलग छांटना आम, केला, अमरूद, पपीता, सीताफल की पत्तियां।

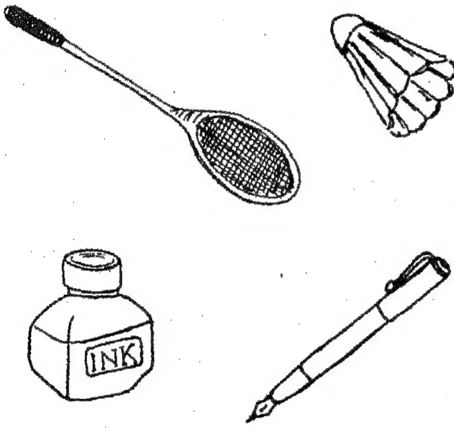
विभिन्न प्रकार की सब्जियों का वर्गीकरण करना।

सीप, शंख, पत्थर को अलग-अलग छांटना।

कई प्रकार के बीज जैसे इमली, सीताफल, बेर, करेले, तेंदू, चीकू, के बीजों को अलग-अलग छांटना।

दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाली वस्तुओं जैसे

ताला-चाबी, जूता-मोजा, पैंट-शर्ट, टेबिल-कुर्सी, रैकिट-चिड़िया, दवात-कलम आदि के सहसंबंध को जोड़ना। इससे जहां छात्र वस्तुओं को पहचानने लगेंगे वहीं उनके शब्द भण्डार में भी वृद्धि होगी। इस गतिविधि के लिए बच्चों को जूता, ताला, रैकिट, पैंट, मोजा, चाबी आदि के चित्रों को साथ-साथ मिलाने के लिए कहें। इस प्रकार वे अनेक संबंधों जैसे थाली-कटोरी, कप-प्लेट, हॉकी-बाल, बाल्टी-मग, पेंसिल-रबर, पेन-नोटबुक आदि को समझ सकेंगे।



चित्र 6

विभिन्न वस्तुओं के चित्रों में दिखने वाली कमियों की पहचान कराकर बच्चों की निरीक्षण क्षमता का विकास किया जा सकता है। कार्ड में बने चित्रों के माध्यम से मनुष्य, स्कूटर, साइकिल, मोटर, मोटर साइकिल, स्वेटर, पंखे आदि के चित्रों में कमियां (खामियां) दिखाएंगे जैसे मनुष्य का चित्र जिसका एक हाथ नहीं दिखाया गया हो, स्कूटर जिसमें एक पहिया नहीं हो, साइकिल जिसमें एक पैंडल नहीं हो, घोड़े का चित्र जिसमें एक कान न हो, खिलाड़ी जिसके एक पैर में जूता न हो आदि। बच्चे कमियों को ढूंढ़कर बताएंगे।



चित्र 7

शिक्षिका अपनी कल्पना शक्ति का प्रयोग कर पाठ्यचर्या के परिप्रेक्ष्य में ऐसी अनेक गतिविधियां निर्मित कर सकती हैं जो विभिन्न संज्ञानात्मक कौशलों के विकास में सहायक हों। बच्चों का सक्रिय सहयोग लेकर इन गतिविधियों को अत्यन्त आकर्षक और शैक्षिक बनाया जा सकता है। गतिविधियां ऐसी चुनी जाएं जो विभिन्न इन्द्रियों को सक्रिय कर बच्चों की संवेदनाओं को पोषित-पल्लवित करें।

इन गतिविधियों के माध्यम से बच्चों में संज्ञानात्मक ज्ञान के साथ-साथ मिलजुल कर काम करने, आदेश का पालन करने, कार्डों को संभाल कर रखने की भावनाओं का भी विकास होगा। साथ ही उनकी शब्दावली में भी वृद्धि होगी। ❑❑

क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान
श्यामला हिल्स, भोपाल
मध्य प्रदेश

सर्व शिक्षा अभियान
वृहद् लक्ष्य – कमजोर प्रयास

❑ उमेश चन्द्र अग्रवाल

सर्व शिक्षा अभियान के क्रियान्वयन की अभी तक की प्रगति पर नजर डालने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस महत्वाकांक्षी अभियान के क्रियान्वित होने पर भी प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का चिर प्रतीक्षित लक्ष्य इस बार भी निर्धारित समय सीमा अर्थात् वर्ष 2010 तक पूरा किया जाना संभव नहीं हो पाएगा, क्योंकि जिस प्रकार से और जिस गति से यह अभियान संचालित हो रहा है तथा पूर्व के भी सभी शिक्षा से संबंधित कार्यक्रम अथवा अन्य विकास की योजनाएं और कार्यक्रम क्रियान्वित हुए हैं या हो रहे हैं, उनके अनुभव हमें इस महत्वपूर्ण अभियान की सफलता सुनिश्चित करने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास करने और कुछ विशेष व्यवस्थाएं निर्धारित करने के लिए आमंत्रित करते प्रतीत हो रहे हैं।

देश के 6 से 14 वर्ष की आयु-वर्ग के प्रत्येक बच्चे को वर्ष 2010 तक प्रत्येक दशा में कक्षा 1 से 8 तक की अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने के एक महत्वाकांक्षी लक्ष्य को लेकर केन्द्र सरकार द्वारा वर्ष 2000-2001 के बजट में **"सर्व शिक्षा अभियान"** के क्रियान्वयन की घोषणा की गई और नवम्बर 2000 से इसे लागू भी कर दिया गया। इस अभियान को बल प्रदान करने के रूप में प्राथमिक शिक्षा को बच्चों के मौलिक अधिकार में सम्मिलित किए जाने हेतु बहुप्रतीक्षित 93वें संविधान संशोधन को भी वर्ष 2002-03 में राष्ट्रपति की मन्जूरी भी प्राप्त हो गई। सर्व शिक्षा अभियान की 10 वर्षीय महत्वाकांक्षी योजना को अमली जामा पहनाने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा 98,000 करोड़ रुपए की भारी भरकम धनराशि की व्यवस्था की गई और यथावश्यक राज्य सरकारों को समुचित धनराशि उपलब्ध भी कराई जा रही है। केन्द्र सरकार द्वारा समस्त राज्य सरकारों को विश्वास में लेकर बड़े जोर-शोर से इस अभियान को लागू भी किया गया। इस महत्वपूर्ण अभियान के अन्तर्गत सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता के साथ-साथ उसके उपयोगी होने तथा उपयुक्त गुणवत्तायुक्त होने पर भी पूरा-पूरा ध्यान देने पर जोर दिए जाने का लक्ष्य है। इस प्रकार अगले 10 वर्षों के अन्दर निर्धारित आयु-वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की समुचित व्यवस्था किए जाने हेतु इस अभियान के अन्तर्गत सभी राज्य सरकारों की समुचित भागीदारी से देश के 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क, संतोषजनक, गुणवत्तापरक, समयबद्ध तथा समेकित प्रयास करने पर विशेष बल देने हेतु देश भर में सर्व शिक्षा अभियान को संचालित किया गया है।

इस महत्वाकांक्षी अभियान को प्रारम्भ करने के पीछे जो दर्शन रहा है, उसका हम सभी लोग आसानी से अन्दाजा लगा सकते हैं। इसे हमारा दुर्भाग्य ही माना जाना चाहिए कि विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का गौरव प्राप्त होते हुए भी हमारे देश में अशिक्षा

की विभीषिका हमारे माथे पर एक कलंक की भांति अंकित है। यद्यपि पिछले 55 वर्षों में इसे मिटाने के लिए अनेक प्रयास भी किए गए, कई शिक्षा आयोगों और समितियों को गठन किया गया; अनेकों योजनाएं और कार्यक्रम संचालित किए गए, नए-नए प्रयोगों और साक्षरता शिक्षा के प्रसार के नाम पर अरबों-खरबों की धनराशियां भी खर्च की गईं लेकिन स्थिति में आशातीत परिवर्तन नहीं हो सका। तमाम कोशिशों के बाद देश में साक्षरता की दर पिछले 55-56 वर्षों में 16-17 प्रतिशत से भले ही बढ़कर 66 प्रतिशत पहुंच गई है लेकिन निरक्षरों की संख्या अभी भी सुरसा के मुंह के बराबर है। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय की अप्रैल 2003 में जारी रिपोर्ट के अनुसार 6-14 वर्ष आयु-वर्ग के स्कूल जाने योग्य 19 करोड़ बच्चों में से हमारे 3.5 करोड़ बच्चे स्कूलों से बाहर हैं। 8 जुलाई, 2003 को जारी यू.एन.डी.पी. की मानव विकास रिपोर्ट 2003 के मुताबिक हमारे यहां ऐसे बच्चों की संख्या 4 करोड़ है। इस संबंध में हमारी यह एक अजीब विडम्बना रही है कि देश में साक्षरता दर में निरन्तर वृद्धि होने के बावजूद वर्ष 1991 तक निरक्षरों की संख्या में निरन्तर वृद्धि परिलक्षित हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पहली बार वर्ष 2001 की जनगणना के मुताबिक देश में निरक्षरों की कुल संख्या में कमी आई है लेकिन फिर भी वर्ष 2001 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार अभी भी देश में निरक्षरों की संख्या 34 करोड़ के करीब है। साक्षरता में धीमी प्रगति और निरक्षरों की संख्या में कमी न आ पाने के पीछे जो प्रमुख कारण रहा, वह स्पष्ट है कि जिस गति से और जिस प्रतिबद्धता से हमें इस दिशा में प्रयास करने चाहिए थे, वे नहीं किए जा सके और हमारी साक्षरता योजनाओं की प्रभावशीलता और विश्वसनीयता उपयुक्त स्तर की नहीं बन पाई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही हमने इस दिशा में जो विशेष प्रयास किए, उनमें शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिए वर्ष 1950 में भारतीय संविधान में नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि राज्य 10 वर्षों के भीतर 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। इसका तात्पर्य था कि देश के 6-14 आयु-वर्ग के सभी बच्चे वर्ष 1960 तक विद्यालयों में नामांकित हो जाएंगे। यह समय सीमा कालान्तर में 1960 से बढ़ाकर 1972, तत्पश्चात् 1976 तथा पुनः 1990 कर दी गई। वर्ष 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति में 8 वर्षीय अनिवार्य शिक्षा की समयावधि का विभाजन करके 1990 तक पांचवीं कक्षा तक की शिक्षा तथा 1995 तक आठवीं कक्षा तक की शिक्षा को सर्वभुलभ बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। वर्ष 1992 में इस समय-सीमा को पुनः बढ़ाकर वर्ष 2000 तक निश्चित किया गया और अब "सर्व शिक्षा अभियान" नामक नए कार्यक्रम के अन्तर्गत इसे और भी आगे बढ़ाते हुए वर्ष 2010 तक इसे प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इससे साफ जाहिर है कि प्रारम्भ से ही प्राथमिक शिक्षा को जितनी प्राथमिकता दिया जाना अपेक्षित था, वह संभव नहीं हो पाया अथवा उसके प्रति प्रशासनिक और राजनैतिक प्रतिबद्धता का अभाव रहा और कमोबेश इसी प्रकार की संभावनाएं अब सर्व शिक्षा अभियान के विभिन्न राज्यों में और विशेषकर उत्तरी भारत के राज्यों में इसके क्रियान्वयन की प्रारम्भिक स्थिति से दिखाई देने लगी हैं।

उल्लेखनीय है कि देश में प्राथमिक शिक्षा की सर्वव्यापकता और सर्वसुलभता हेतु इसे मौलिक अधिकारों से समाहित कराने हेतु सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा का अधिकार प्रत्येक भारतीय नागरिक का मूल अधिकार है इसलिए इसे मूल अधिकारों में सम्मिलित किए जाने हेतु सरकार को निर्देश भी जारी किए गए। इस संबंध में वर्ष 1997 में 83वां संविधान संशोधन बिल भी राज्यसभा में प्रस्तुत किया गया जिसके द्वारा प्राथमिक शिक्षा को बच्चों का मौलिक अधिकार बनाना और संविधान सम्मत इसकी समुचित व्यवस्था सुनिश्चित करना सरकार का दायित्व निर्धारित करने का प्रावधान किया गया। दुर्भाग्यवश यह संविधान संशोधन बिल भी तकनीकी जटिलताओं की क्लिष्टता से गुजरता हुआ वर्ष 2002-2003 के अन्तिम चरण में पास हो

सका। अब सरकार सर्व शिक्षा अभियान के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा की सार्वभौमिकता के चिर प्रतीक्षित लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु तथाकथित रूप से प्रयासरत है।

सर्व शिक्षा अभियान के प्रमुख लक्ष्य

देश में सभी बालकों को प्राथमिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था किए जाने हेतु सरकार द्वारा पूर्व में यों तो अनौपचारिक शिक्षा योजना (1979), ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना (1987), बेसिक शिक्षा परियोजना (1993), जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (1994), मध्यान्ह भोजन योजना (1995), शिक्षा गारन्टी योजना (1999) जैसी कई महत्वपूर्ण योजनाएं और कार्यक्रम संचालित किए गए हैं और इनका कई क्षेत्रों में कुछ अनूकूल प्रभाव भी दृष्टिगोचर हुआ है। सर्व शिक्षा अभियान से कई प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति की संभावनाएं व्यक्त की गई हैं। संक्षेप में सर्व शिक्षा अभियान के निम्नांकित उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं—

- ☐ देश के 6 से 14 वर्ष की आयु-वर्ग के सभी बच्चों को कक्षा 1 से 8 तक की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की वर्ष 2010 तक समुचित व्यवस्था करना।
- ☐ वर्ष 2010 की समाप्ति तक इन सभी बच्चों को उपयोगी एवं समुचित गुणवत्ता और संस्कार युक्त शिक्षा प्रदान करना।
- ☐ वर्ष 2010 तक प्रत्येक दशा में बालक और बालिकाओं में शैक्षिक असमानता और सामाजिक भेदभाव मिटाने के लिए सभी व्यवस्थाएं सुनिश्चित करना।
- ☐ सभी 6 से 11 वर्ष तक की आयु के बच्चों को प्रत्येक दशा में कक्षा 1 से 5 तक की, पांच वर्ष की, प्राथमिक शिक्षा वर्ष 2007 तक प्रदान करना।
- ☐ 6 से 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को 8 वर्ष तक की उच्च प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा पूर्ण करना।
- ☐ प्रारम्भिक स्तर पर सभी बच्चों को जीवनोपयोगी और समाजोपयोगी समुचित गुण स्तर की शिक्षा व्यवस्था किया जाना।
- ☐ प्राथमिक तथा उच्च प्राथमिक स्तर तक की (कक्षा 8 तक की) शिक्षा पूर्ण करने तक प्रत्येक दशा में सभी ऐसे बच्चों को विद्यालय में अध्ययनरत् रखना।
- ☐ सभी अवशिष्ट बच्चों को वर्ष 2003 तक "स्कूल शिक्षा गारन्टी" केन्द्र की उपलब्धता सुनिश्चित करना।
- ☐ वर्ष 2003 तक ऐसे सभी बच्चों को जो स्कूल से ड्राप-आउट हो गए हैं, को वैकल्पिक स्कूल 'बैक टू स्कूल' शिविर की उपलब्धता सुनिश्चित करना।
- ☐ प्राथमिक शिक्षा के मौजूदा ढांचे को समुचित प्रकार से उपयोग करते हुए इस अभियान के माध्यम से शिक्षा संबंधी प्रयासों को एक सूत्र में बांधते हुए इसे अधिक क्रियाशील बनाना।

क्रियान्वयन की वर्तमान स्थिति

सर्व शिक्षा अभियान जैसी 98,000 करोड़ रुपए की 10 वर्षीय महत्वाकांक्षी इस योजना को नवम्बर 2000 से लागू हुए लगभग एक चौथाई अवधि अर्थात 2.5 वर्ष का समय व्यतीत हो गया है। यदि इस अभियान की इस अवधि की उपलब्धियों पर दृष्टिपात किया जाए तो स्थिति काफी निराशाजनक प्रतीत होती है। इस अभियान के विभिन्न राज्यों में क्रियान्वयन की स्थिति के संबंध में स्वयं केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय की समय-समय पर जारी समीक्षा रिपोर्टों और उच्च स्तरों से जारी वक्तव्यों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा इस अभियान के क्रियान्वयन हेतु अपेक्षित पहल नहीं की जा रही है। उल्लेखनीय है कि सर्व शिक्षा अभियान के समुचित क्रियान्वयन की जिम्मेदारी संबंधित राज्य सरकारों के सुपुर्द की गई है लेकिन खासतौर से उत्तर प्रदेश, दिल्ली, बिहार, उड़ीसा, पंजाब, गोवा और झारखण्ड जैसे राज्यों में राज्य सरकारों का इस योजना के क्रियान्वयन के प्रति रवैया संतोषजनक नहीं रहा है। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा जारी ताजा रिपोर्ट के अनुसार देश भर में स्कूल न जाने वाले बच्चों में से बिहार में 46 लाख,

उत्तर प्रदेश में 40 लाख, पश्चिम बंगाल में 30 लाख, उड़ीसा में 20 लाख, असम में 13 लाख, झारखण्ड में 10 लाख, मध्य प्रदेश में 7 लाख और राजस्थान में 8 लाख बच्चे अभी भी स्कूलों से दूर हैं। इसी प्रकार देश भर में स्कूल जाने से वंचित बच्चों में आधे तो उत्तर प्रदेश, बिहार एवं पश्चिम बंगाल के ही हैं। शिक्षा से सर्वाधिक वंचित बच्चों के राज्य बिहार के संदर्भ में मानव संसाधन विकास मंत्रालय की इस रिपोर्ट में मंतव्य रहा है कि इस अभियान के क्रियान्वयन के प्रति राज्य सरकार का रुख अधिक गंभीर नहीं है बल्कि उससे अधिक वहां की स्थानीय संस्थाएं अधिक गंभीर प्रतीत होती हैं। मंत्रालय की नजर में शिक्षकों के अनेक पद खाली होने के कारण भी बिहार में इस योजना का भली-भांति क्रियान्वयन संभव नहीं हो पाया है।

उत्तर प्रदेश के संबंध में केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय का स्पष्ट मत रहा है कि वहां अधिकारियों की फटाफट तबादला नीति, हजारों रिक्त पड़े शिक्षकों के पद और बढ़ते शिक्षक-छात्र अनुपात ने इस अभियान के क्रियान्वयन को बुरी तरह प्रभावित किया है। इस संबंध में मंत्रालय द्वारा उत्तर प्रदेश सरकार को प्रेषित एक पत्र के मजमून से यह स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है जिसमें उत्तर प्रदेश सरकार से अपेक्षा की गई है कि सरकार शिक्षकों के 90 हजार रिक्त पदों के लिए शीघ्र भर्तियां करे जो वर्षों से खाली पड़े हैं क्योंकि इसके चलते राज्य में शिक्षक-छात्र अनुपात 1:80 तक पहुंच गया है जबकि आदर्श स्थिति 1:40 की ही निर्धारित है। उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश का शिक्षक-छात्र अनुपात देश में सर्वाधिक है और इसको आदर्श स्थिति में लाने के लिए यहां लगभग 1.5 लाख नए शिक्षकों की नियुक्ति अपरिहार्य होगी लेकिन चिन्तनीय स्थिति यह है कि यहां न तो शिक्षकों की नियुक्ति की कोई समुचित प्रक्रिया ही चल रही है और न ही वैकल्पिक शिक्षा केन्द्रों को खोलने के लिए कोई उत्सुकता दिखाई जा रही है। इस संबंध में एक और विशेष तथ्य यह भी है कि इस अभियान को लागू करते समय प्रदेश सरकार द्वारा दलित बच्चों और विशेष रूप से बालिकाओं पर जोर दिए जाने की बात की गई थी। लेकिन यह विडम्बना ही है कि प्रदेश में स्कूलों से दूर रहे बच्चों में अधिक तादाद इन्हीं वर्गों की है।

उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे पिछड़े राज्यों के अतिरिक्त मंत्रालय की नजर में दिल्ली, पंजाब और गोवा जैसे राज्यों में भी इस अभियान के प्रति संबंधित सरकारों की खास प्रतिबद्धता दिखाई नहीं दे रही है। इसीलिए, ऐसे संपन्न और विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के मामले में क्रियाशील रहने वाले राज्यों में भी इस योजना के क्रियान्वयन की स्थिति अच्छी नहीं है। इस अभियान के अन्तर्गत सबसे पहला कार्य जो संबन्धित राज्य सरकार को करना था, वह स्कूल से दूर रह गए बच्चों की संख्या का सर्वेक्षण के माध्यम से सही-सही अन्दाजा लगाना था। यद्यपि अधिकांश राज्यों में घर-घर सर्वेक्षण करवाकर यह अन्दाजा लगा लिया है कि स्कूल से दूर रहे बच्चों की संख्या वहां लगभग कितनी है लेकिन दिल्ली और गोवा में इस प्रकार के प्रारंभिक सर्वेक्षण भी राज्य सरकारों द्वारा अब तक नहीं करवाए गए हैं। विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में अग्रणी रहने वाली पंजाब सरकार द्वारा उसको जो भी धनराशि जारी की गई वह उसके द्वारा खर्च ही नहीं की गई। इतना ही नहीं केन्द्र सरकार द्वारा प्रदत्त यह धनराशि उसने क्रियान्वयन समिति को हस्तान्तरित करने में ही एक वर्ष का समय लगा दिया। आन्ध्र प्रदेश, झारखण्ड और पश्चिम बंगाल द्वारा भी जारी धनराशि का ससमय सदुपयोग करने में काफी कोताही बरती गई है। इससे साफतौर पर स्पष्ट हो जाता है कि सर्व शिक्षा अभियान जैसी नितान्त अपरिहार्य और जनोपयोगी महत्वपूर्ण योजना के समुचित और प्रभावी रूप से क्रियान्वयन में अधिकांश राज्यों और विशेष रूप से उत्तर भारत के राज्यों द्वारा रुचि नहीं दिखाई गई और इसलिए वहां इस योजना का प्रभावी क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। अब, जबकि 93वें संविधान संशोधन द्वारा 6-14 वर्ष आयु-वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा उनका मौलिक अधिकार बना दी गई है तो सभी राज्य सरकारों को अपने यहां सभी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के

संवैधानिक दायित्व के निर्वहन हेतु सर्वशिक्षा अभियान के क्रियान्वयन में विशेष रूप से रुचि लेनी चाहिए तथा वे अपने यहां सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं किए जाने पर संविधान की अवमानना की दोषी नहीं ठहराई जा सकेंगी।

उपयोगी सुझाव

सर्व शिक्षा अभियान के क्रियान्वयन की अभी तक की प्रगति पर नजर डालने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस महत्वाकांक्षी अभियान के क्रियान्वित होने पर भी प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का चिर प्रतीक्षित लक्ष्य इस बार भी निर्धारित समय सीमा अर्थात् वर्ष 2010 तक पूरा किया जाना संभव नहीं हो पाएगा क्योंकि जिस प्रकार से और जिस गति से यह अभियान संचालित हो रहा है तथा पूर्व के भी सभी शिक्षा से संबंधित कार्यक्रम अथवा अन्य विकास की योजनाएं और कार्यक्रम क्रियान्वित हुए हैं या हो रहे हैं, उनके अनुभव हमें इस महत्वपूर्ण अभियान की सफलता सुनिश्चित करने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास करने और कुछ विशेष व्यवस्थाएं निर्धारित करने के लिए आमंत्रित करते प्रतीत हो रहे हैं। इस हेतु निम्न सुझावों पर विचार किया जाना समीचीन लगता है–

- ☐ सर्व शिक्षा अभियान की सफलता सुनिश्चित करने हेतु आवश्यक है कि जिस उत्साह और भावना के साथ इस अभियान को प्रारम्भ करने की सरकार द्वारा घोषणाएं की जाती रही हैं, इसे पूरा होने तक उसी रूप में बनाए रखा जाए। इसके लिए इस अभियान के प्रति राजनैतिक प्रतिबद्धता पूरी तरह बनाए रखना बहुत जरूरी है। यदि राजनैतिक प्रतिबद्धता को बनाए रखा जा सका तो इस अभियान की सफलता की आशाएं की जा सकती हैं।
- ☐ अभियान की सफलता सुनिश्चित करने हेतु दूसरे स्तर पर प्रशासनिक प्रतिबद्धता होना भी आवश्यक है। प्रशासनिक प्रतिबद्धता बनाए रखने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों का इस अभियान के प्रति भावनात्मक लगाव पैदा करने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए क्योंकि इसके बिना सफलता मिलना सन्देहास्पद रहेगा।
- ☐ हर हालत में देश के प्रत्येक गांव में प्राथमिक विद्यालय की उपलब्धता और उसमें पर्याप्त आवश्यक संसाधन उपलब्ध कराना सुनिश्चित किया जाना चाहिए। हालांकि हर गांव में विद्यालय खोलने हेतु "शिक्षा गारंटी स्कीम" वर्ष 1999 से केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित योजना के तौर पर संचालित की गई है लेकिन अतिशीघ्र सभी गांवों में पर्याप्त संसाधनों युक्त विद्यालय खोलने हेतु इस तरह के कार्यक्रमों में तेजी लाना जरूरी है, अन्यथा सभी बच्चों को दूर-दूर स्थित प्राथमिक विद्यालयों में जाकर शिक्षा प्राप्त करना संभव नहीं हो पाएगा और इस प्रकार सर्व शिक्षा अभियान सफल होना संभव नहीं होगा।
- ☐ सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा को कानूनी रूप से अनिवार्य घोषित करने हेतु 93वां संविधान संशोधन पास अवश्य हो गया है लेकिन इसमें ऐसी व्यवस्था भी निर्धारित की जानी चाहिए जिसमें निर्धारित आयु वर्ग के बच्चों को स्कूल भेजने की जिम्मेदारी अभिभावकों की रहे तथा अनुपालन न करने पर कठोर कार्यवाही किए जाने का प्रावधान किया जाए अन्यथा किन्हीं न किन्हीं निहित कारणों से सभी बच्चे स्कूल नहीं जा पाएंगे और सर्व शिक्षा अभियान की सफलता प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगी।
- ☐ सभी प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षकों की पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति प्राथमिकता के तौर पर सुनिश्चित की जानी चाहिए। हमेशा से इस बात को सरकार स्वीकार करती रही है कि विद्यालयों में शिक्षकों की भयंकर कमी है उसे शीघ्र दूर करने की घोषणाएं भी की जाती रही हैं लेकिन यथार्थ यह है कि यह कमी पूरी करना कभी भी संभव नही हो पाया। अतः इस ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षकों से इस अभियान में भरपूर सहयोग करने के लिए पर्याप्त अभिप्रेरणा के साथ-साथ कठोरतापूर्वक दायित्वों के निर्वहन के लिए विवश

किए जाने हेतु आवश्यक व्यवस्थाएं भी निर्धारित की जानी चाहिए।

- आमतौर पर योजनाओं के क्रियान्वयन को वित्तीय संसाधनों की पर्याप्तता और ससमय उनका प्रवाह काफी हद तक प्रभावित करता है। यह अभियान एक 10 वर्षीय लम्बी अवधि की योजना है। अतः इस प्रमुख अभियान की सफलता हेतु आवश्यक वित्तीय संसाधनों का नियन्त्रित और ससमय प्रवाह सुनिश्चित किया जाना चाहिए। जिससे किसी भी स्तर पर आवश्यक वित्तीय संसाधनों की कमी अनुभव किए जाने के कारण आवश्यक व्यवस्थाओं पर दुष्प्रभाव न पड़े।
- अभियान की सफलता हेतु आवश्यक है कि प्रत्येक स्तर पर अनुश्रवण की नियमित व्यावहारिक और प्रभावी व्यवस्था सुनिश्चित की जाए और उसका कठोरता से पालन कराया जाए। इसके अतिरिक्त सभी स्तरों पर संबंधित प्रत्येक कर्मी की जवाबदेही सुनिश्चित किया जाना भी अत्यन्त आवश्यक है।
- इस अभियान के बहाने कम से कम प्राथमिक शिक्षा को व्यावहारिक, रोचक, श्रेयस्कर और उपयोगी बनाने हेतु अतिशीघ्र आवश्यक कदम उठाए जाएं अर्थात् रोचक व्यावहारिक और उपयोगी पाठ्यक्रम का निर्धारण, रुचिपूर्ण पुस्तकें और पाठ्य विधियों का प्रयोग करने के लिए प्रयास किए जाएं ताकि इसकी ग्राह्यता में अभिवृद्धि हो सके। उल्लेखनीय है कि विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा अभी तक इस अभियान के अन्तर्गत उठाए गए कदमों को केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा समुचित नहीं माना गया है।
- वित्तीय संसाधनों की कमी को दृष्टिगत करते हुए यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि प्राथमिक शिक्षा को पूरी तरह निःशुल्क रखा जाना वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बिल्कुल जरूरी नहीं है। ऐसे लोग जो इसका खर्च वहन करने में सक्षम हैं, उनके लिए सशुल्क लेकिन समुचित गुणवत्तायुक्त प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराई जाए तथा गरीब, वंचित और साधन विहीन लोगों के लिए इसे निःशुल्क रखने के साथ-साथ इन्हें स्टेशनरी, यूनीफार्म तथा छात्रवृत्ति आदि की भी वयवस्था कर देनी चाहिए ताकि बच्चों के साथ-साथ उनके अभिभावकों का भी शिक्षा के प्रति पर्याप्त लगाव विकसित हो और तभी इस अभियान में गति लाया जाना भी संभव हो सकेगा।
- अभियान की सफलता हेतु हर स्तर से इसका समुचित प्रचार-प्रसार भी किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही इस अभियान के नियोजन और कार्यान्वयन के प्रत्येक चरण में चुनी हुई त्रिस्तरीय पंचायतों, स्वयंसेवी संस्थाओं, नागरिक संगठनों आदि की सहभागिता को प्राप्त करने के लिए समुचित व्यवस्था सुनिश्चित की जाए जो केवल कागजों और फाइलों में लिखा-पढ़ी और औपचारिकता मात्र न रहे बल्कि व्यवहार में उसकी परिणति होनी चाहिए।

आशा है कि उपरोक्त सुझावों पर अमल किए जाने से निश्चित रूप से इस अभियान की सफलता के लिए मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। इस सम्बंध में यह भी विचारणीय है कि इन सभी सुझावों पर एक साथ और एक समय में अमल किया जाना व्यावहारिक दृष्टि से संभव भले ही न हो लेकिन एक सुनियोजित, सुविचारित और सुनिश्चित योजना के अन्तर्गत अमल में लाए जाने वाले बिन्दुओं और कदमों हेतु एक व्यावहारिक कार्य योजना तैयार कर उसे पूरी निष्ठा, तत्परता और प्रतिबद्धता के साथ लागू करने पर विचार किया जाना चाहिए। ☐☐

17 ए, इंसाफ नगर कालोनी
(हाइटेक इंस्टीट्यूट के पास)
सैक्टर-10, इंदिरा नगर
लखनऊ, उत्तर प्रदेश

+2 स्तर पर कथात्मक गद्य साहित्य की विधाओं– कहानी और उपन्यास शिक्षण अभिगम की व्यूह रचनाएं

☐ जयपाल तरंग

शिक्षक-विद्यार्थियों का प्रश्नोत्तर संवाद, परिचर्चा और परस्पर विमर्श आयोजित किया जाए। तात्विक विवेचना के अन्तर्गत कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, भाषा शैली विषयक पक्षों पर निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर देने की क्षमता विकसित करें। कहानी के विकास तथा उपन्यास के विकास के संदर्भ में प्रस्तावित कहानीकार/उपन्यासकार के योगदान को समझें और निबन्धात्मक उत्तर देने की योग्यता विकसित करें। कहानी और उपन्यास की समस्याओं अथवा चरित्र विशेष पर कथात्मक गद्य विधा में सृजन करें।

कथात्मक गद्य साहित्य की विधाओं में कहानी और उपन्यास ही प्रमुख हैं। यद्यपि वर्णन प्रधान कथात्मक विधाओं में आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, साक्षात्कार आदि भी आते हैं तथापि शिक्षण-अधिगम की व्यूह रचनाओं के संदर्भ में यहां कहानी और उपन्यास को ही विचारणीय विषय बनाया गया है। कहानी लोकप्रिय विधा है। हिन्दी के क्षेत्र में लोककथाओं की वाचिक परम्परा आज भी सक्रिय है। बाल-कथा-कहानियों के अतिरिक्त बोध कथाएं, नीति कथाएं, पशु-पक्षी कथाएं आदि भी प्रचलन में हैं। रामलीला और महाभारत गायकी के कारण पद्यात्मक कथात्मक साहित्य से भी हिन्दी लोक भरपूर है। कथा-कविता, खण्ड काव्य, महाकाव्य आदि कथात्मक पद्य साहित्य की विधाएं हैं। ये विधाएं भी हमारे विचार-विमर्श का विषय नहीं हैं। उच्चतर माध्यमिक +2 स्तर के वैकल्पिक एवं केन्द्रिक पाठ्यक्रम में इन विधाओं का शिक्षण-अधिगम अपेक्षित है।

कथात्मक गद्य साहित्य की विधाओं में कहानी और उपन्यास स्वतन्त्र विधाएं हैं। दोनों में आकार-प्रकार का ही अन्तर नहीं है बल्कि जीवन के कथात्मक सरोकार की भिन्नता भी है। कहानी जीवन के किसी एक प्रसंग की गद्य में समग्र कथात्मक अभिव्यक्ति होती है। उपन्यास जीवन की विराट और व्यापक झांकी प्रस्तुत करता है। जीवन को अगर गुलाब का पौधा मान लें तो अंकुर, कली, खिलखिलाता गुलाब, कांटों में खिला गुलाब, मुरझाया गुलाब आदि का कथात्मक विधा में वर्णन करें तो वह कहानी कहलाएगी। अंकुरण से लेकर फूल तक के विकास की कथात्मक अभिव्यक्ति उपन्यास कहलाएगा अर्थात् पतझड़, बसंत, गर्मी और सर्दी, आंधी-तूफान आदि के अनेक प्रसंगों में वर्णित उपन्यास कहलाएगा।

कथात्मक गद्य-साहित्य की विधाओं की अपनी रचनात्मक विशेषताएं होती हैं। वस्तुतः कथात्मकता के तत्वों पर ही विधागत रचनात्मकता निर्भर करती है। इन तत्वों का परिचय इन विधाओं के अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहां कहानी/उपन्यास के तत्वों का विवरण इसी आशय से दिया जा रहा है। ध्यान रहे कि कथात्मक गद्य साहित्य की विधाओं—कहानी और उपन्यास— के सभी तत्व अनिवार्यतः इन रचनाओं में अपेक्षित नहीं होते, लेकिन इन सभी तत्वों का ज्ञान

और उनकी पहचान कहानी और उपन्यास की रचनाओं को समझने-समझाने के लिए अनिवार्य है। कथात्मक गद्य-साहित्य की विधाओं के सर्वमान्य तत्व हैं–

- ☐ कथानक/कथावस्तु
- ☐ पात्र-योजना/चरित्र-चित्रण
- ☐ देशकाल/वातावरण
- ☐ संवाद योजना/कथोपकथन
- ☐ भाषा और शैली
- ☐ उद्देश्य
- ☐ शीर्षक

कथानक/कथावस्तु

कथात्मक गद्य विधाओं– कहानी/उपन्यास का महत्वपूर्ण तत्व कथानक है। कथानक ही इन विधाओं का आधार तत्व है। प्रारम्भ से अन्त तक कही गई कहानी/ उपन्यास ही कथानक है। कथानक पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों, समस्याओं, मनोदशा और अन्तर्द्वन्द्व द्वारा अभिव्यक्त होता है। कथानक के विकास का क्रम-संगठन भी महत्वपूर्ण होता है। कतिपय विद्वान नाटक की भांति कथानक के विकास में पांच बिन्दुओं का उल्लेख करते हैं।

● आरम्भ, ● प्रयत्न, ● प्राप्त्याशा, ● नियताप्ति और ● फलागम। कई विद्वान केवल तीन बिन्दुओं की वकालत करते हैं, उनके अनुसार ● आरम्भ, ● प्रयत्न और ● फलागम। वस्तुतः कथानक के विकास में कौतूहल, जिज्ञासा, रोचकता, विश्वसनीयता, मौलिकता और यथार्थ जीवन की प्रासंगिकता निहित होती है।

साहित्य में कथात्मक गद्य की विधाओं का विषय के आधार पर भी वर्गीकरण किया जाता है। वह भी कथानक की बुनियाद पर निर्भर होता है। जीवन के विविध प्रसंग कथात्मक गद्य विधाओं के विषय होते हैं, यथा–व्यक्ति, समाज, संस्कृति, इतिहास, धर्म, राजनीति आदि से विषय उठाए जा सकते हैं। जिस विषय का कथानक होता है उसी को कथात्मक गद्य का आधार माना जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यास निर्मला का कथानक समाज की समस्या–दहेज, अनमेल विवाह आदि पर आधारित है। अतः निर्मला सामाजिक उपन्यास है। वृन्दावन लाल वर्मा का उपन्यास "झांसी की रानी" का कथानक इतिहास से लिया गया है अतः वह ऐतिहासिक उपन्यास है। अमरनाथ की कहानी "प्रायश्चित" अन्धविश्वास के कथानक पर टिकी है। अन्धविश्वास सामाजिक-सांस्कृतिक विषय है अतः यह एक सामाजिक कहानी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कथानक का प्रकार ही कहानी का वर्ग निश्चित करता है।

शिक्षण-अधिगम की दृष्टि से कथानक का विषय, क्रमिक विकास और कथानक के गुण जैसे रोचकता, *जिज्ञासा, कौतूहल, मौलिकता, सामाजिक-सांस्कृतिक अथवा* वैयक्तिक संदर्भ विशेष कहानी अथवा विशेष उपन्यास के विषय में सोदाहरण स्पष्ट किया जाना अपेक्षित है।

पात्र-योजना/चरित्र-चित्रण

कथात्मक साहित्य की विधाओं का पात्र-योजना/चरित्र-चित्रण भी महत्वपूर्ण तत्व है। पात्र/पात्रों के बिना किसी कहानी/उपन्यास की रचना संभव नहीं है। कम पात्रों की योजना कहानी की जरूरत है। अधिक पात्रों की संभावना उपन्यास की मांग है। इस रचनागत विशेषता की कलात्मक सृष्टि दोनों विधाओं में कथा की जीवन्तता और जीवन की समग्र झांकी प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होती है। परिस्थितियों और परिणामों के मध्य यथार्थ का परिचय और आदर्श का बोध कराने में चरित्र-चित्रण ही सफल होता है। चरित्र-चित्रण में प्रत्यक्ष कथन की अपेक्षा परोक्ष वर्णन और संवादात्मक अभिव्यक्ति ही अपेक्षित होती है। प्रत्यक्ष गुण-दोष प्रायः चरित्र-चित्रण की कला को विकृत कर देते हैं। कहानी विशेष या उपन्यास विशेष के संदर्भ में पात्रों की योजना, प्रतिनिधित्व और प्रकार, चरित्र-चित्रण से पूर्णतः परिचित हो जाना चाहिए। इससे शिक्षण-अधिगम प्रभावी बन जाता है।

देशकाल/वातावरण

कथात्मक साहित्य की विधाओं– कहानी, उपन्यास– के समग्र बोध, कलात्मक अभिव्यक्ति सहज सृजन-संप्रेषण एवं सराहना के लिए देशकाल/वातावरण के तत्व का अनिवार्यतः महत्व है। भाषा और शैली का संप्रेषण उसकी

संस्कृति की छाया व सीमा में सिद्ध होता है। शब्द अर्थ बोध भी तभी संभव होता है। किसी अंग्रेज का उसकी वेष-भूषा में हिन्दी क्षेत्र के किसी खेत में हल चलाना दिखाकर वर्णित कथा देशकाल के विरुद्ध है। देशकाल के अन्तर्गत समय, स्थान और परिस्थितियों का संकलन-समन्वय ही कथानक को सजीव बनाता है। इसे ही संकलन-त्रय भी कहा जाता है। सांस्कृतिक यथार्थ, आदर्श की परिधि में ही कथात्मक साहित्य की विधा सम्पन्न होती है।

समय, स्थान और सांस्कृतिक वातावरण की कसौटी पर खरी न उतरने वाली कथात्मक रचनाएं हिन्दी कथा साहित्य में स्थान नहीं पा सकतीं। अतः शिक्षण-अधिगम की दृष्टि से किसी कहानी विशेष अथवा उपन्यास विशेष के देशकाल/वातावरण का सुस्पष्ट ज्ञान और विवेचन अपेक्षित है।

संवाद योजना

संवाद योजना भी कथात्मक गद्य विधाओं का तत्व है। यद्यपि कथात्मक गद्य रचनाओं में संवाद-योजना अनिवार्य तत्व नहीं है। कई कथात्मक रचनाएं संवाद विहीन भी हैं और सृजन संभावनाएं अनन्त हैं। संवाद-योजना के अन्तर्गत रचना में इस तत्व की उपस्थिति कथानक को सजीव और विश्वसनीय बनाने में सहायक होती है। प्रेमचन्द की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' इतनी संवाद प्रधान है कि यदि उसमें रंगकर्मी निर्देश जोड़ दें तो वह नाटक बन जाए। वस्तुतः संवाद पात्रों की वास्तविक और चारित्रिक विशेषताओं को प्रमाणिक बना देते हैं। कथानक में रोचकता, स्वाभाविकता और गति के साथ प्रभाव रचने का कार्य संवाद योजना से सहज संभव हो जाता है। संवाद का सरल, सुबोध और संक्षिप्त होना उन विधाओं के लिए आवश्यक है। कहानी विशेष/उपन्यास विशेष के संदर्भ में संवादों की पहचान और उसके तात्विक कार्यों का विश्लेषण इन कृतियों के शिक्षण-अधिगम के लिए महत्वपूर्ण और उपयोगी होता है। पात्रों के अंतर्द्वंद्व भी संवाद-संभव हैं।

भाषा और शैली

भाषा के तत्व को समझाने के लिए केवल भाषा का सरल-सुबोध होना ही सार्थक नहीं है। पात्रानुकूल भाषा प्रयोग हिन्दी भाषा की संप्रेषण शक्ति है। मौलवी साहब और पंडित जी के पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग हिन्दी का सौन्दर्य है। उन्हें कठिन भाषा नहीं कहा जा सकता। कथानक में किसी विषय का गंभीर संदर्भ भी विषय प्रधान भाषा की आवश्यकता महसूसता है। विषय प्रधान भाषा भी कठिन नहीं कही जा सकती। भाषा की सरलता और सहजता की परख-पहचान भी शिक्षण-अधिगम की दृष्टि से उपयोगी और लाभप्रद है।

बोली के तत्व को भाषा के साथ ही मिलाकर विचार करना सटीक है। भाषा से ही शैली की सजावट होती है। प्रस्तुति की दृष्टि से कथात्मक गद्य की तीन शैलियों को समझ लेना चाहिए।

- ☐ उत्तम पुरुष प्रधान शैली
- ☐ अन्य पुरुष प्रधान शैली
- ☐ संवाद शैली

☐ उत्तम पुरुष प्रधान शैली, मेरी कहानी मेरी जवानी होती है। जैसे जिन दिनों में जयपुर राज्य का सम्राट था उन दिनों की बात है। 'मैं' के माध्यम से कहानी/उपन्यास का कथानक वर्णित होता है, यही उत्तम प्रधान शैली कहलाती है।

☐ अन्य पुरुष प्रधान शैली को एतिहासिक शैली भी कहा जाता है। इसमें कहानी विशेष या उपन्यास विशेष अन्य पुरुष द्वारा कहा जाता है। जैसे उन दिनों जयपुर में सम्राट शमशेर सिंह राज्य करते थे। उन्होंने......

☐ संवाद शैली में कथानक का प्रारम्भ और विस्तार संवादों में बना रहता है जैसे प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी' अथवा जैसे तुम मुझ कहानीकार को कहां ले आए? क्षमा करना गुरुदेव यह जयपुर है। क्या कहा—जयपुर। जी, गुरुदेव सम्राट शमशेर सिंह की राजधानी जयपुर। अच्छा यह कहो...।

कथात्मक गद्य विधाओं में मुहावरेदार, नाटकीय, चित्रात्मक, अलंकारयुक्त काव्यात्मक, पत्रात्मक और डायरी

शैली के तत्व भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कथात्मक शैली में प्रवाह और प्रभाव भी कारगर होते हैं। कथात्मक गद्य विधा में पठन/कथन सरसता, निर्बाध गति प्रवाह और सहज बोधगम्यता के साथ अपने निकटस्थ अनुभव से उद्बुद्ध प्रसंग और पात्रों की रचनात्मक प्रभावोत्पादकता शैली के प्रभाव गुण को द्योतित करती है। अतः किसी विशेष उपन्यास के संदर्भ में भाषा और शैली की परख-पहचान शिक्षण-अधिगम व्यूह रचनाओं को संवारने में सहायक होती है।

उद्देश्य

सोद्देश्यता, कथात्मक गद्य विधाओं का प्रमुख तत्व है। उद्देश्य विहीनता पर वाद-विवाद संभव है। कला के लिए वकालत करने वालों की भी कमी नहीं है, किन्तु सार्थकता और प्रासंगिकता का तकाजा है कि हिन्दी साहित्य की कथात्मक गद्य विधाओं में उद्देश्य की अनुपस्थिति उनका शुभ लक्षण नहीं है। कथात्मक रचना के प्रभाव, शिक्षा और उद्घाटित सत्य/समस्या के समाधान में उद्देश्य निहित होता है। उद्देश्य का तात्विक दर्शन शिक्षण-अधिगम को धारदार बना देता है।

शीर्षक

शीर्षक कथात्मक गद्य विधाओं का अनिवार्य तत्व है। अच्छा और उपयोगी शीर्षक उसके कथानक/उद्देश्य/पात्र का प्रभावी बिन्दु होता है। संक्षिप्तता, अर्थप्रेरक, जिज्ञासा और कौतूहल शीर्षक की विशेषताएं हैं। यह भी शिक्षण-अधिगम के लिए महत्वपूर्ण है।

कथात्मक गद्य साहित्य की विधाएं, कहानी और उपन्यास, का पाठ्यक्रम की दृष्टि से समझ लेना भी आवश्यक है। कहानी की पाठ्यक्रम में दोहरी व्यवस्था होती है। पाठ्यपुस्तक के संकलन में कहानी होती है। किसी पूरक/सहायक पुस्तक में कहानी संगृहीत हो, संभव है। शिक्षण-अभिगम की दृष्टि से उसकी व्यूह रचनाएं अलग-अलग प्रकार की होती हैं। रही उपन्यास की बात वह तो प्रायः सहायक/पूरक पुस्तक के रूप में ही पाठ्यक्रम में प्रस्तावित होता है। इन रचनाओं के शैक्षणिक उद्देश्य का विवरण शिक्षण-अभिगम की दृष्टि से अधिक लाभप्रद है। अतः कथात्मक विधाओं के तात्विक विवेचन के उपरान्त उनके शैक्षणिक उद्देश्यों की चर्चा यहां की जा रही है।

कथात्मक गद्य साहित्य की विधा कहानी–शैक्षणिक उद्देश्य

सामान्य उद्देश्यों की चर्चा न करके हम यहां विशिष्ट उद्देश्यों तक सीमित रहेंगे। उनका विवरण शिक्षार्थी केन्द्रित और अपेक्षित योग्यता आधारित है। इस विवरण से शिक्षण-अधिगम और मूल्यांकन/परीक्षण संभव होता है।

पाठ्यपुस्तक में संकलित कहानी – शैक्षणिक उद्देश्य

उद्देश्य–	उद्देश्य कथन
	विद्यार्थी–
ज्ञान–	• कहानी की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रदर्शन कर सकेंगे।
बोध–	• कहानी संबंधी तत्वों के विषय में अपने विचार प्रकट कर सकेंगे।
बोध–	• कहानी की तात्विक विवेचना कर सकेंगे।
अनुप्रयोग–	• कहानी के कथानक का बदल, विस्तार और अभिनवीकरण में मौलिक संभावनाओं का उल्लेख कर सकेंगे।
	• रचनाकार की जीवनी, साहित्यिक योगदान और रचनाओं की विशेषताएं बता सकेंगे।
सृजनात्मक	• संबंधित समस्या पर नई कहानी की रचना कर सकेंगे।

सहायक पुस्तक में संकलित कहानी–शैक्षणिक उद्देश्य

उद्देश्य	उद्देश्य कथन
	विद्यार्थी–
ज्ञान–	• पठन गति और पठन बोध में तीव्रता का परिचय दे सकेंगे।
ज्ञान–	• पात्रों का परिचय, कथानक, चरित्र-चित्रण संबंधी निबन्धात्मक

प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।

बोध— • कहानी का तात्विक वर्णन कर सकेंगे।

अनुप्रयोग— • कहानी के विकास पर प्रकाश डाल सकेंगे।

सहायक पुस्तक में उपन्यास – शैक्षणिक उद्देश्य

उद्देश्य	उद्देश्य कथन
	विद्यार्थी
ज्ञान—	• तीव्र गति से मौन पाठ कर सकेंगे।
	• पूर्व निर्देशित प्रश्नों के उत्तर दे सकेंगे।
बोध—	• कक्षा में उपन्यास, विशेष तत्वों संबंधी प्रश्नों के उत्तर/टिप्पणी दे सकेंगे।
बोध—	• समग्र उपन्यास का तात्विक विवेचन कर सकेंगे।
योग्यता विस्तार	• उपन्यास के विकास और उपन्यासकार के योगदान पर निबन्धात्मक प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे।
अनुप्रयोग—	• उपन्यास की घटना/चरित्र/समस्या के आधार पर लघु उपन्यास की मौलिक रचना कर सकेंगे।

कथात्मक गद्य विधा कहानी शिक्षण-अधिगम व्यूह रचनाएं

प्रस्तावित कहानी के अध्ययन-अध्यापन में प्रयुक्त युक्तियां, विधियां और नवाचार कक्षा-शिक्षण में उपयोगी होते हैं। इन्हें ही शिक्षण-अधिगम की व्यूह रचनाएं भी कहा जाता है।

कहानी मात्र छपित गद्यात्मक वर्णन नहीं है। वह भाषा-शैली में प्रस्तुत कथात्मक कला की प्रदर्शन प्रस्तुति है। कहानी कथन की एक लय, संवादों की सजीव अदायगी, कथानक की प्रवाहपूर्ण और प्रभावपूर्ण प्रस्तुति कहानी के आदर्श पाठ के लिए आवश्यक है। पाठ्यपुस्तक में कहानी के उन अंशों को सावधानी से चयन किया जाता है जिनमें प्रदर्शन प्रस्तुति की अपेक्षा होती है। कथन, संवाद, कथानक विकास, गंभीर परिवर्तन आदि की प्रभावी प्रदर्शन कला के आधार पर आदर्श वाचन से कथन अभिनय किया जाता है। उसी अंश की मौखिक प्रस्तुति विद्यार्थियों से अपेक्षित होती है।

कठिन शब्दों के अर्थ और टिप्पणियां श्यामपट की सहायता से की जाती हैं। समग्र कहानी के पठन-प्रदर्शन-अभिनय अभ्यास के बाद ज्ञान, बोध, अनुप्रयोग के प्रश्नों को कथा-विमर्श, परिचर्चा, परिसंवाद के द्वारा निर्देशित पद्धति के अनुसार संयोजित किया जाता है। मौखिक प्रश्नोत्तर अभ्यास के उपरान्त लिखित अभ्यास के लिए निबन्धात्मक प्रश्न गृहकार्य में दिए जाते हैं। यहां व्यूह रचनाओं की बारीकियों को विस्तार से समझाने का प्रयास किया गया है।

कहानी के शैक्षणिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्ण प्रधान कथात्मक गद्य सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। कहानी मात्र छपित गद्य-वस्तु नहीं है, वह कहानी है अर्थात् कहने की कला की प्रदर्शनपरक कला प्रस्तुति। वह कहानीपन क्या है जो कहानी को अन्य विधा-वस्तुओं से भिन्न मानता है? कथात्मक प्रस्तुति वह प्रदर्शन कला है जिसके अन्तर्गत कहानी विशेष में मुखरता-पात्रानुसार कथन, विषयानुसार कथन परिस्थितिजन्य कथन, संवाद-कथन, घटना-वर्णन कथन, भावानुसार कथन, विचारानुसार कथन आदि भंगिमाएं निहित होती हैं। कथन के इन्द्रधनुषी समन्वय में कहानी-प्रदर्शन कला निहित है। अपने आप और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रेमचन्द की कहानियों में प्रायः पंडित जी, मौलवी साहब और नौकर नाटकीय संवादों में तत्समी अनुतान, उर्दू का लहजा और आंचलिक भाषा की मधुरिमा रहती है। यदि कहानी के कथन में अनुतान की इन बारीकियों को प्रदर्शित नहीं किया गया तो कहानी का पूर्णरूपेण संप्रेषण ही बाधित हो जाएगा।

वाचन-शिक्षण अभिगम— कहानी के प्रदर्शन में कभी-कभार आयु-वर्ग का ध्वनि प्रभाव भी कारगर होता है। बुजुर्ग के बोल, युवा के मुखर संवाद से अलग होते हैं। नवयुवती की मधुरवाणी यदि सपाट अथवा कर्कश ध्वनि में व्यक्त हुई तो उसका प्रवाह और प्रभाव दोनों

की किरकिरी हो जाएगी। अतः कहानी कथन की प्रदर्शन कला को प्रभावशाली बनाने के लिए शिक्षण-अधिगम में विशेष कथन अभ्यास की आवश्यकता है, उसमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं–

- ☐ आदर्श वाचन के लिए अंश-चयन और वाचन अभ्यास।
- ☐ अनुकरण वाचन के लिए विद्यार्थियों का चयन उत्तम वाचन क्षमता से। वाचन क्षमता वाले छात्र/छात्रों द्वारा कहानी की पाठ्यपुस्तक के दत्तकार्य के रूप में हो।
- ☐ मौन वाचन के लिए निर्देशित प्रबन्ध और बोध-प्रश्न के साथ कक्षा-शिक्षण पूर्ण कार्य करें।

कहानी की संप्रेषणीयता सुनिश्चित करने के लिए कठिन शब्द या संदर्भों का स्पष्टीकरण वाचन-अभ्यास से पूर्व ही श्यामपट या अन्य सरल युक्ति से कर देना चाहिए।

कहानी अवबोधन शिक्षण-अधिगम– कहानी के अवबोधन के लिए प्रश्नोत्तर विधि, टिप्पणी, कथन और समस्या-उल्लेख और समाधान प्रस्तुति के लिए विद्यार्थियों से निर्देशित अभ्यास कराए जा सकते हैं। प्रश्नों की मांग विद्यार्थियों से भी विकसित अनुप्रयोग शिक्षण-अधिगम के कार्य करें। पूछताछ विधि से अभ्यास कराए जा सकते हैं।

कहानी की आंशिक उद्भावनाओं, घटनाओं मनोभावनाओं के विकास वर्णनों के आलोक में निर्देशित प्रकरणों से भिन्न कथात्मक वर्णन के अनुप्रयोग संभव हैं। अभ्यास भी लाभप्रद होंगे। इससे अन्य सृजनात्मक वर्णन के आधार भी खोजे जा सकते हैं।

तात्विक विश्लेषण शिक्षण-अधिगम– कहानी विश्लेषण विवेचन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कहानी के तत्वों के आधार पर कहानी समीक्षा चर्चा आयोजित की जा सकती है, जिसका परिणाम कहानी का तात्विक विवेचन हो सकता है। शिक्षक समीक्षा चर्चा की प्रक्रिया में सूत्रधार और टिप्पणीकार की भूमिका निभाएगा। चर्चा में भागीदारी अधिकांशतः विद्यार्थियों की रहेगी।

मूल्यांकन शिक्षण-अधिगम– कक्षा शिक्षण-अधिगम की प्रक्रिया में कहानी के अवबोधन, अनुप्रयोग, विश्लेषण के साथ ही मूल्यांकन का विकासशील प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक प्रश्न के समाधान हेतु प्रस्तुत समस्या के उत्तर और समाधान कक्षा-शिक्षण के सतत् मूल्यांकन का हिस्सा हैं।

मूल्यांकन शिक्षण-अधिगम में पाठ्यक्रम निर्देशित मूल्यांकन के अन्तर्गत प्रश्न रचना और प्रश्नोत्तरों की जांच-पड़ताल और निदान-उपचार की योजनाएं शामिल हैं।

व्याख्यापरक प्रश्न	• कथानक की विशेषताएं सोदाहरण बताइए? • शीर्षक के औचित्य पर प्रकाश डालिए? • अमुक के चरित्र की विशेषताएं बताइए?
समीक्षापरक प्रश्न	• कहानी/उपन्यास की तात्विक विवेचना कीजिए? • अमुक का चरित्र-चित्रण कीजिए? • कहानी/उपन्यास की भाषा शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिए? • कहानी/उपन्यास अपने उद्देश्य में कहां तक सफल रहे हैं?
अनुप्रयोग	• वर्णानात्मक लेखन के मूल्यांकन के लिए कहानी की किसी परिस्थिति में परिवर्तन करके कथात्मक वर्ण के लिए प्रश्न रचना।

सहायक पुस्तक के रूप में कथात्मक विधा उपन्यास के शैक्षणिक उद्देश्यों को यहां कहा गया है–

उद्देश्य	उद्देश्य कथन
	विद्यार्थी
ज्ञान	• उपन्यास का रुचि के साथ तीव्र गति के साथ मौन पाठ कर सकेंगे। • निर्देशित कार्य के आधार पर कक्षा में प्रश्नोत्तर दे सकेंगे। • निर्देशित कार्य के आधार पर कथानक

को समझ सकेंगे।

बोध
- निर्देशित कार्य के विषय पर विचार प्रकट कर सकेंगे।
- समग्र उपन्यास का तात्विक विवेचन कर सकेंगे।

अनुप्रयोग
- उपन्यास की रचनागत विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे।
- उपन्यास और उपन्यासकार के महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।

सृजनात्मक
- उपन्यास की घटना या चरित्र के आधार पर सृजनात्मक लघुकथा लिख सकेंगे।

सहायक पुस्तक में संकलित कहानी और प्रस्तावित उपन्यास शिक्षण-अधिगम व्यूह रचनाएं— यह पाठ्य-सामग्री घर पर स्वाध्याय और मौन पाठ के द्वारा अर्थग्रहण के उद्देश्य से प्रस्तावित की जाती है। इसके लिए निर्देशित शिक्षण-अधिगम व्यूह रचनाएं प्रयुक्त की जाती हैं। उनके सविस्तार विवरण में न जाकर उन निर्देशों का उल्लेख किया गया है जिनका उपयुक्त निर्देश शिक्षक कक्षा में अध्ययन पूर्व विद्यार्थियों को देते हैं।

अमुक कहानी अथवा उपन्यास को तीव्र गति से उसे समझते हुए मौन पाठ करते हैं। समझते हुए मौन पाठ ही स्वाध्याय कहलाता है। अतः सब विद्यार्थी... कहानी तथा.......उपन्यास का स्वाध्याय करें।

कहानी/उपन्यास स्वाध्याय शिक्षण अधिगम

स्वाध्याय के समय ध्यान देने योग्य बिन्दुओं का प्रयोग नोट बनाने के लिए भी काम में लाया जा सकता है।

- ☐ व्याख्यापरक उक्तियों और अंशों का चयन और व्याख्या लेखन। उपन्यास में जो उक्तियां व्याख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं उन्हें लिखें और उनकी व्याख्या भी तैयार करें। शिक्षकों से सहायता/परामर्श लें।
- ☐ पात्रों का परिचय और उनके चरित्र की विशेषताओं को नोट करने का स्वाध्याय करें।
- ☐ कठिन शब्द, संदर्भ या टिप्पणी आदि की जानकारी के लिए शब्द-कोश, साहित्य-कोश तथा शिक्षक-परामर्श का लाभ उठाएं।
- ☐ कहानी और समग्र उपन्यास के स्वाध्याय के बाद उनके तत्वों पर सामान्य टिप्पणियां नोट करें।
- ☐ शिक्षकों द्वारा स्वाध्याय पूर्व निर्देश और प्रश्नों के उत्तर तैयार करें।
- ☐ शिक्षक स्वाध्याय पूर्व बोध प्रश्न और सहायक परामर्श नोट करा दें।

निर्देशित स्वाध्याय अवधि की समाप्ति के बाद कक्षा शिक्षण-अधिगम

शिक्षक-विद्यार्थियों का प्रश्नोत्तर संवाद, परिचर्चा और परस्पर विमर्श आयोजित किया जाए। तात्विक विवेचना के अन्तर्गत कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद योजना, भाषा शैली विषयक पक्षों पर निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर देने की क्षमता विकसित करें।

कहानी के विकास तथा उपन्यास के विकास के संदर्भ में प्रस्तावित कहानीकार/उपन्यासकार के योगदान को समझें और निबन्धात्मक उत्तर देने की योग्यता विकसित करें। कहानी और उपन्यास की समस्याओं अथवा चरित्र विशेष पर कथात्मक गद्य विधा में सृजन करें।

कथात्मक गद्य साहित्य की विधाओं कहानी और उपन्यास की शिक्षण-अधिगम व्यूह रचनाओं के अध्ययन से शिक्षण-अधिगम को प्रभावी ढंग से विकसित किया जा सकता है। इन सुझावों के आलोक में +2 स्तर पर विद्यार्थियों की संप्राप्ति में गुणात्मक अभिवृद्धि के लिए और कुछ नया भी किया जा सकता है। ☐☐

H-2/53, महावीर एंक्लेव
नई दिल्ली

अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा का स्वरूप

❑ जितेन्द्र कुमार लोढ़ा

जब अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा के स्वरूप की चर्चा हो तथा सेवारत शिक्षा का प्रसंग नहीं लिया जाए तो यह एक प्रकार की बेमानी होगी। सेवारत शिक्षकों को मूल्यपरक शिक्षा का ज्ञान व समाज की आवश्यकता के आधार पर मूल्यों के विकास व उसकी स्थापना का प्रशिक्षण देने का उत्तरदायित्व प्रथम दृष्टि में ही अध्यापक शिक्षा संस्थानों का है। इस दृष्टि से सेवारत शिक्षकों को उनके शिक्षा पंचांग की सुविधा के आधार पर मूल्यपरक शिक्षा आधारित शिविर आयोजित किए जाएं जिनमें उनको नवीन मूल्यों की जानकारी, मूल्य निर्माण प्रक्रिया, अवधारणाओं की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा की नवीन विधियों की जानकारी, शाश्वत मूल्यों की स्थापना व सुरक्षा की विधियों व कौशलों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करने के व्यावहारिक सूत्रों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा के प्रभाव को मापने के सूत्रों व विधियों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा से जुड़ी पाठ्य-सहगामी क्रियाओं की जानकारी कराई जाए ताकि सेवारत शिक्षक वर्तमान शिक्षा को राष्ट्र व समाज की आशाओं व आकांक्षाओं के अनुकूल बना सके।

एक सामान्य-सा तथ्य है कि बाजार या राष्ट्र में किसी वस्तु की कमी या मांग बढ़ जाती है तो उस देश के उत्पादन संस्थानों की तरफ झांका जाता है। किसी भी उत्पादन संस्थान की उपादेयता राष्ट्र व जनता की आशाओं, आवश्यकताओं तथा आंकाक्षाओं पर खरा उतरने से होती है। यदि किसी देश के उत्पादन संस्थानों व उस देश की सामाजिक आवश्यकताओं में तालमेल नहीं होता तो उन उत्पादन संस्थानों की सार्थकता व भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है चाहे वे उत्पादन संस्थान किसी भी क्षेत्र के क्यों न हों?

उपर्युक्त मूल्यांकन के मापदण्ड को अक्षरशः अध्यापक शिक्षा पर लिया जाता है तो हम कह सकेंगे कि यदि अध्यापक शिक्षा संस्थानों का निर्गत समाज अर्थात् राष्ट्र की आशाओं, आवश्यकताओं व आकांक्षाओं के आधार पर नहीं होगा तो उनकी सार्थकता पर तो प्रश्न चिन्ह लगेगा ही, साथ ही साथ उस समाज या राष्ट्र के सभी प्रकार के उत्पादन संस्थानों की जड़ें कमजोर हो जाएंगी। किसी भी राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से उस राष्ट्र के शैक्षिक संस्थानों का अत्यधिक महत्व होता है तथा राष्ट्र के शैक्षिक संस्थान गुणात्मक व विकासात्मक दृष्टि से निर्भर करते हैं, अध्यापक शिक्षा संस्थानों पर। सरल रूप में कहा जाए कि अध्यापक शिक्षा संस्थान वे कारखाने हैं, जो राष्ट्र की शैक्षिक आवश्यकताओं की आपूर्ति करते हैं। अध्यापक शिक्षा संस्थानों को राष्ट्र की परिस्थितियों व परिवर्तनों को देखकर राष्ट्र की आशाओं रूपी मांग पर अपने शैक्षिक उत्पाद अर्थात् अध्यापक तैयार करने होते हैं। इस दृष्टि से यह तथ्य स्पष्ट है कि जब किसी राष्ट्र को अपनी बदलती हुई परिस्थितियों, राष्ट्र में होने वाले सम्यक् एवं असम्यक् परिवर्तनों को देखकर अपनी शैक्षिक नीति अर्थात् शैक्षिक

ढ़ांचा तैयार करना होता है, यह उस राष्ट्र की शैक्षिक मांग होती है। इसी शैक्षिक मांग के आधार पर अध्यापक शिक्षा संस्थानों को अपना उत्पाद व अनुसंधानात्मक प्रवृतियों को रखना होता है।

आज विश्व भर में भयंकर अशान्ति और भय व्याप्त है। अनाचार, अन्याय, हिंसा, अनैतिकता तथा धन की पूजा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। भारत में भी आज भ्रष्टाचार, अन्याय, हिंसा, कुत्सित धर्मान्धता, अपराध के साथ-साथ सभी क्षेत्रों में मानव-मूल्यों का अवमूल्यन हो रहा है। आज ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य जंगली पशुओं से भी नीचे गिरता जा रहा है तथा वह अपनी लोभ, हिंसा एवं स्वार्थपरता की भावनाओं से एक-दूसरे को नष्ट कर देगा। ईश्वर तथा समाज का भय तथा सदाचार की मर्यादाएं आज मानव व्यवहार को नियंत्रित नहीं कर पा रही हैं। जहां एक ओर मानव ने विज्ञान एवं टैक्नोलॉजी के क्षेत्र में उन्नति की है, वहीं दूसरी ओर मानव के विचार, आदर्श और कार्य इतने गन्दे और भयंकर हो गए हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति के नष्ट और पतित होने का भय पैदा हो गया है। इस प्रकार आज लगभग संसार के सभी देशों के सामने भयंकर मूल्य संकट खड़ा हो गया है। इस मूल्य संकट की स्थिति को विभिन्न विचारकों ने बहुत ही मार्मिक एवं यथार्थता से चित्रित किया है, जिसकी एक बानगी देखिए—

"आजकल भाषण की शूरवीरता बढ़ी है
कर्म की शूरवीरता घटी है
जीवन झूठे गर्वों से बोझिल हो गया है
धन हमारा भगवान बन गया है
घमण्ड हमारा धर्म बन गया है
बुद्धि की गद्दी पर स्वार्थ बैठा है
अहंकारिता हमारा फैशन बन गया है
लालच हमारा सौंदर्य बन गया है
दया नीचे डूब गई है
नैतिकता खो गई है
पाखण्ड हमारे जीवन का प्रकाश बन गया है
प्रेम और दयालुता बीमार पड़ गए हैं
आधुनिक शिक्षा ने मनुष्य को लम्पटता से अंधा
कर दिया है
जीवन एक बोझ बन गया है
मस्तिष्क बहक गए हैं
अब और देरी करने से विनाश हो जाएगा
नैतिकता और राष्ट्र की आवश्यकताओं को शिक्षा के साथ सुन्दर ढंग से समन्वित करो।"

उपर्युक्त दृष्टांत के साथ-साथ हम चीन, नामीबिया, सोमालिया, अफगानिस्तान आदि देशों में हाल ही में हुई अमानवीय यातनाओं, नरसंहार तथा गम्भीर अपराधों, नशीले पदार्थों का व्यापार, हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, यौन अपराधों, देश के उच्च राजनैतिक नेताओं के भ्रष्टाचार के कारनामों, पर्यावरण को नष्ट करने की प्रवृतियों तथा एड्स से मरने वाले लोगों के आंकड़े देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि आज विश्व व हमारे देश में मानवीय मूल्यों का बड़ा भयावह संकट उत्पन्न हो गया है। इस संकट से उबरने के लिए समस्त निगाहें शिक्षा तथा शिक्षा संस्थानों पर लगी हुई हैं। ऐसे समय में उन अध्यापक शिक्षा संस्थानों की तीक्ष्ण याद आती है, जो इस समस्या या संकट से राष्ट्र या समाज को उबारने का रास्ता व सामग्री (अर्थात् समाज की समय आधारित आशाओं, आकांक्षाओं तथा आवश्यकताओं के अनुरूप अध्यापक शिक्षा की आयोजना हो) दे सकें, क्योंकि इस संकट से उबरने का एकमात्र सबल समाधान है "मूल्यपरक शिक्षा"। इसलिए आज मूल्यपरक शिक्षा का सही ढांचा तथा उसके अनुकूल वातावरण बनाने की दृष्टि से संसार भर के धर्मगुरु, शिक्षा विचारक एवं चिन्तक अध्यापक शिक्षा संस्थानों पर आशा भरी दृष्टि जमाए हुए हैं तथा आशा करते हैं कि अध्यापक शिक्षा संस्थान स्वयं तो मूल्यपरक हों ही साथ ही साथ उनका निर्गत भी गुणात्मक दृष्टि से मूल्यपरक शिक्षा के प्रसार में प्रशिक्षित एवं मूल्यों के निर्माण में प्रवीण तथा शाश्वत व स्थापित मूल्यों का आदर करने वाला हो तभी अपेक्षित राष्ट्र का निर्माण होगा। इस दिशा में अध्यापक शिक्षा संस्थान मूल्यपरक शिक्षा की आयोजना बनाने, आवश्यकता आधारित अध्यापकों को तैयार करने, सेवारत शिक्षकों को मूल्यों के विकास व स्थापना संबंधी प्रशिक्षण प्रदान

करके, मूल्यपरक शिक्षा के विकास व स्थापना के संबंध में राष्ट्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, इस दिशा में परियोजनाएं व अनुसंधानात्मक गतिविधियों को संचालित कर रचनात्मक व अहम् भूमिका निभा सकते हैं।

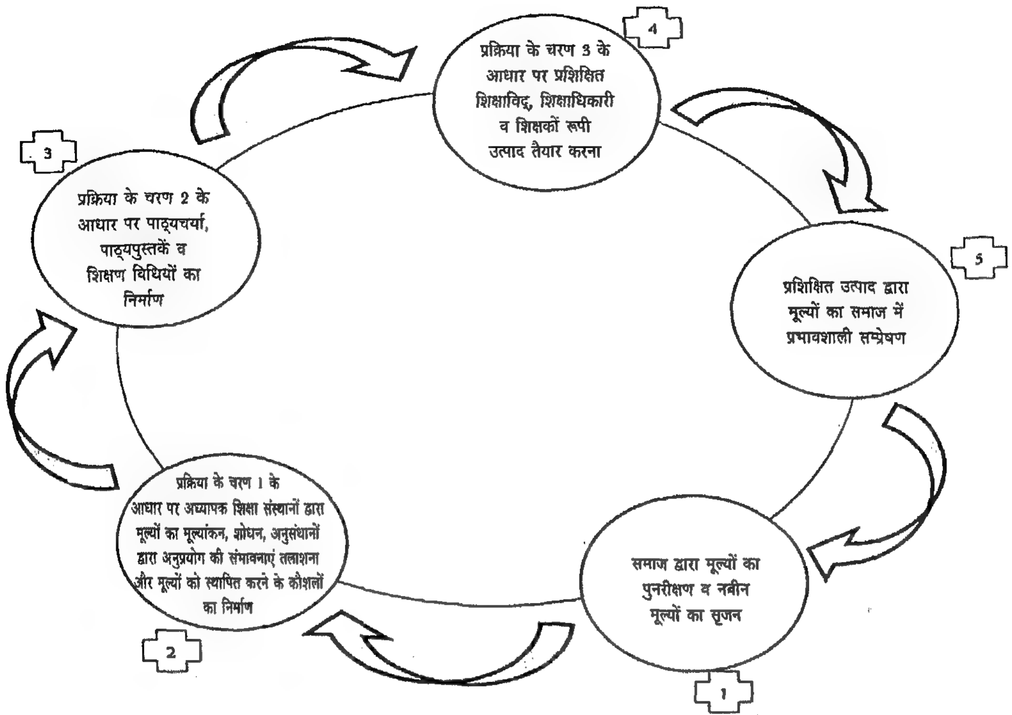
यह सर्वविदित सूत्र है कि शिक्षा व शैक्षिक संस्थाओं को समाज की आवश्यकता केन्द्रित धुरी पर रहना पड़ता है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण शिक्षा आयोजना को वर्तमान समाज की महत्वपूर्ण समस्या "मूल्य संकट" पर आधारित होना आवश्यकता आधारित कार्यक्रम है। अतः अध्यापक शिक्षा संस्थानों के पाठ्यक्रम में भी मूल्यपरक शिक्षा की अवधारणा का होना वर्तमान समाज की प्रबल आवश्यकता है ताकि समाज व राष्ट्र को मूल्य संकट का सामना करने के लिए श्रेष्ठ दिशा निर्देशक मिल सकें, श्रेष्ठ योजनाएं, परियोजनाएं व अनुसंधानात्मक निष्कर्ष मिल सकें जिसके आधार पर मूल्य संकट से मुक्ति व मूल्यपरक शिक्षा की स्थापना के विभिन्न कार्यक्रम प्राप्त हो सकें। अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा के स्वरूप का चिन्तन सिलसिलेवार अग्रलिखित बिन्दुओं में इस प्रकार है--

मूल्यपरक शिक्षा के प्रक्रियात्मक स्वरूप में अध्यापक शिक्षा की भूमिका

अध्यापक शिक्षा संस्थानों का कार्य समाज को ऐसी शिक्षा व्यवस्था व शिक्षक प्रदान करना है, जो समाज के स्वीकृत मापदण्डों व मूल्यों की कसौटी पर खरे उतरें। इस दृष्टि से अध्यापक शिक्षा संस्थानों का यह दायित्व बन जाता है कि वे न केवल समाज के स्वीकृत मापदण्डों व मूल्यों के आधार पर शैक्षिक ढांचा प्रदान करें बल्कि इस दिशा में सम्यक् व सकारात्मक नवीन मूल्यों की स्थापना भी करें। जिससे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में असीम विकास के अवसर पैदा हो सकें क्योंकि समाज के भीतर स्थापित/पोषित मूल्यों का पुनरीक्षण कार्य, उन्हें स्वीकार/अस्वीकार करने, बनाए रखने अथवा नकार देने जैसे कार्य प्रक्रियात्मक रूप से लगातार चलते रहते हैं। साथ ही साथ समय के अनुरूप, नए ज्ञान व नवीन परिवर्तनों के प्रकाश में, अनुभवों से उपजी समझ के कारण नए मूल्यों का सृजन कार्य भी जारी रहता है। यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में शिक्षण कार्य का महत्वपूर्ण स्थान है। पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें और शिक्षक, सभी शिक्षण प्रक्रिया के प्रमुख अंग हैं जो वांछित और स्वीकृत मूल्यों को समाज में जड़ स्तर तक स्थापित कर सकते हैं। इस दृष्टि से अध्यापक शिक्षा संस्थानों के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा की विषय-वस्तु व समाज में इनकी स्थापना के कौशलों को अवश्य रखना चाहिए ताकि इसके आधार पर वांछित उत्पाद अर्थात् ऐसे शिक्षाविद्, शिक्षा अधिकारी एवं शिक्षकों का निर्माण हो, जो स्वीकृत मूल्यों को समाज की जड़ों में गहराई तक संप्रेषित कर सकें। अतः स्पष्ट है कि अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा की विषय-वस्तु, उसकी स्थापना के कौशल, नवीन मूल्यों का सृजन व उनका मूल्यांकन अनुसंधानों द्वारा उनके अनुप्रयोग की संभावनाएं तलाशना आदि का समावेश होता है जो रेखाचित्र से स्पष्ट है।

अध्यापक शिक्षा के मुख्य विषयों में आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मूल्यपरक शिक्षा का समावेश

समाज के भावी दिशा निर्देशकों अर्थात् शिक्षकों के निर्माण में उन सभी अनिवार्य व ऐच्छिक विधाओं का समावेश किया जाता है जिनसे भावी शिक्षक अपना ज्ञान, समाज की आशाओं व आवश्यकताओं के अनुरूप सम्प्रेषित करने में पारंगत हो जाए। मूल्य संकट आधुनिक समाज की प्रमुख समस्या है। इस समस्या को मद्देनजर रखते हुए अध्यापक शिक्षा संस्थानों के पाठ्यक्रम को इस प्रकार तैयार किया जाए कि भावी शिक्षक शिक्षा के आधारभूत ज्ञान, शिक्षण विधियों के ज्ञान, शिक्षण कौशलों से भी प्रशिक्षित हो जाए। साथ ही साथ वह नवीन समाज के अनुरूप गत्यात्मक व आवश्यकता आधारित ज्ञान भी प्राप्त कर सके। अतः शिक्षादर्शन, शिक्षासमाजशास्त्र, शिक्षामनोविज्ञान जैसे विषयों में मूल्यपरक शिक्षा का समावेश कर इनके पाठ्यक्रमों को इस प्रकार संयोजित



मूल्यपरक शिक्षा के प्रक्रियात्मक स्वरूप में अध्यापक शिक्षा की भूमिका

किया जाए कि भावी शिक्षक इस समस्या का गहराई से भान कर भविष्य में इसे दूर करने में कारगर साबित हो।

मूल्यपरक शिक्षा ऐसी शिक्षा है, जो उचित मूल्यों से अनुप्रेणित होती है तथा ऐसे दृष्टिकोण, आस्था व संकल्प को विकसित करती है, जिससे मानव मात्र अपने जीवन के सभी कार्यों व व्यवहारों को उचित मूल्यों की कसौटी पर परखता हुआ मानव कल्याण व अपनी आत्मा की आवाज को सर्वोपरि मानता रहे। यह शिक्षा धार्मिक शिक्षा का न तो कोई रूप है न तथाकथित "नैतिक शिक्षा" है, जो पहले कुछ देशों की पाठशालाओं में दी जाती थी। वस्तुतः यह एक धर्म निरपेक्ष शिक्षा है, जिसमें परम्परा तथा आधुनिक शाश्वत् मूल्यों तथा उचित सामाजिक, सांस्कृतिक तथा पर्यावरण संबंधी मूल्यों और भूत, वर्तमान तथा भविष्य का ऐसा सुन्दर व संतुलित मिश्रण होता है, जिससे मानव जीवन के आध्यात्मिक उत्थान, विश्व बन्धुत्व, विकासात्मक मानवता और सद्भावना का विकास होता है। इस प्रकार मूल्यपरक शिक्षा में आध्यात्मिकता, भौतिक विज्ञान तथा गत्यात्मकता का सकारात्मक व सुन्दर समन्वय है, जिससे श्रेष्ठ मानव जाति का उदय संभव है, जो संकीर्णताओं से परे होगी। वस्तुतः इसे "एकीकृत शिक्षा" समझना चाहिए। उपर्युक्त मूल चिन्तन को ध्यान में रखते हुए अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम के मुख्य आधारभूत विषयों में आवश्यकता व वांछनीयता के आधार पर मूल्यपरक शिक्षा को एकीकृत स्वरूप में रखा जा सकता है।

दर्शन, शिक्षा और मूल्य

● ब्रह्माण्ड में मानव की स्थिति पर पाश्चात्य व भारतीय दर्शन का चिन्तन, ● मानव जीवन के उद्देश्य– विकास और शिक्षा, विकास की दृष्टि से मानवीय आवश्यकताएं, ● शिक्षा के उद्देश्य– पाश्चात्य व भारतीय, ● युनेस्को के आदर्श और संस्तुतियां, ● अंतर्राष्ट्रीय समझ की शिक्षा, ● शान्ति और मानव अधिकार, ● शिक्षा की नवीन विधियों का दर्शन, ● मूल्यों का दर्शन– मूल्यों का परिभाषीकरण, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्य, बुद्धिमता और भौतिक संस्कृति के मूल्य, ● समानता, स्वाधीनता, लोकतंत्र, भ्रातृभाव के आदर्शात्मक विचार, ● भारतीय मूल्यों का दर्शन।

मनोविज्ञान, शिक्षा और मूल्य

● मानव और व्यक्तित्व, ● व्यक्तित्व का विकास– अहम् स्मृति और स्वयं के संदर्भ में भारतीय व पाश्चात्य विचार, ● चेतन व अचेतन, भौतिक, प्राणदायी शक्तियों, ललितकला (सौन्दर्य), सूझ-बूझ (बुद्धि), आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक विकासात्मक अध्ययन, ● मानव के बहुआयामी व्यक्तित्व, ● मानव के अन्तर्द्वन्द, ● व्यक्तित्व का एकीकरण, ● व्यक्तित्व के उच्च स्तर व संतुलित व्यक्तित्व, ● शरीर के विकास की शिक्षा और भौतिक संस्कृति के मूल्यों का अध्ययन, ● जीव संबंधी, जीवन का इन्द्रिय संबंधी ज्ञान, जीवन निर्वाह के आवश्यक घटक, जीवन के लिए घातक एवं प्राणदायक घटकों की शिक्षा, ● मनोवैज्ञानिक पूर्णताओं का अध्ययन, अन्तर्आत्मा की शिक्षा तथा मानसिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक संस्कृतियों के मूल्यों का अध्ययन।

समाजशास्त्र, शिक्षा और मूल्य

● मूल्यों का समाजशास्त्र, ● मूल्य निर्माण प्रक्रिया, ● आधुनिक भारतीय समाज के मूल्य तथा आकांक्षाएं, ● मूल्यपरक योजनाओं पर आधारित सामाजिक निर्माण तथा नियोजित सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन, ● शिक्षा के उद्देश्य, ध्येय व मूल्य सामाजिक आकांक्षाओं के आधार पर, ● सामाजिक संबंधों तथा मूल्यपरक विषय वृत्तों का मूल्यांकन एवं मूल्यांकन के मापदण्ड, ● शिक्षा व मूल्य आधारित सामाजिक पुनर्गठन, ● मूल्यपरक तथ्य और सामाजिक औपचारिकताएं, ● सामाजिक प्रक्रिया द्वारा स्वीकृत व आवश्यक मूल्यों के आधार पर सामाजिक व्यक्तित्व का निर्माण एवं इस प्रक्रिया के मुख्य आधारों का अध्ययन, ● जीवन विज्ञान की अवधारणा, सिद्धान्त, संस्कृति, बुद्धिमता एवं परम्पराएं, ● नए मूल्य और शिक्षा, ● असम्यक् मूल्य और शिक्षा का दायित्व, ● मूल्य शोधन प्रक्रिया व समाज की भूमिका, ● नैतिक निर्णयों के प्रति अभिवृत्तियों के विकास में शिक्षा की भूमिका।

उपर्युक्त विषय-सामग्री को नियमित अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में उचित विषयों में समावेश कर भावी शिक्षकों के अन्दर मूल्यपरक शिक्षा के कौशल व समझ विकसित की जा सकती है।

अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा को पृथक विषय के रूप में स्थापित करना

आज हमारे देश में अनेक अध्यापक शिक्षा संस्थानों में "नैतिक शिक्षा" नाम से ऐच्छिक विषय चलाया जा रहा है, जिसके माध्यम से भावी अध्यापकों को आधारभूत व शाश्वत मूल्यों की शिक्षा प्रदान की जाती है। लेकिन मूल्यपरक शिक्षा की कोई ठोस व वैज्ञानिक व्यवस्था का प्रायः अध्यापक शिक्षा संस्थानों में अभाव है। आज आवश्यकता इस बात की है कि अध्यापक शिक्षा संस्थानों में मूल्यपरक शिक्षा का वैज्ञानिक व व्यापक दृष्टिकोण पैदा करने के लिए मूल्यपरक शिक्षा का एक पृथक विधा के रूप में अध्ययन कराया जाए। इस विधा की अध्यापक शिक्षा की दृष्टि से आवश्यकता आधारित वैज्ञानिक विषय-सामग्री समायोजित कर भावी अध्यापकों को इस दृष्टि से प्रशिक्षित किया जाए कि वे वर्तमान समाज की आवश्यकताओं व आकांक्षाओं के अनुकूल बन सकें।

इस दिशा में हमारे देश के श्री सत्य साईं बाबा ने आजकल विश्वभर में मूल्यपरक शिक्षा आन्दोलन चला रखा है। श्री सत्य साईं बाल विकास ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक "Curriculum and Mathodology for Integrated Human Values in Education" में मूल्यपरक

शिक्षा के पाठ्यक्रम स्वरूप पर सघन चर्चा की गई है। वर्तमान में भारत सरकार की नवीन शिक्षा नीति यह है कि "मूल्यपरक शिक्षा", शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर प्रदान की जाए। संसद की स्टेंडिंग कमेटी ने 1999 में लोकसभा व राज्यसभा के पटल पर "मूल्य आधारित शिक्षा" पर अपनी रिपोर्ट रखी। इस रिपोर्ट में कहा गया कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर मूल्य आधारित शिक्षा का समावेश हो, साथ ही पांच आधारभूत व सार्वभौमिक मूल्य यथा सत्य उचित व्यवहार, शांति, प्रेम, अहिंसा की स्थापना पर जोर दिया और कहा कि इन पांच अधारभूत मूल्यों– भौतिक, बौद्धिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिकता को सभी स्तरों पर इस प्रकार प्रदान किया जाए कि मानवमात्र के व्यक्तित्व का संतुलित व राष्ट्र एवं समाजोनुकूल विकास हो सके।

आज भारत में मूल्यपरक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक एजेन्सियां कार्य कर रही हैं, जो इस शिक्षा के पाठ्यक्रम व इसके अनुप्रयोग के क्षेत्र में, विषय-सामग्री के क्षेत्र में, नवाचार व अनुसंधान के क्षेत्र में, मूल्यपरक शिक्षा के शिक्षण के क्षेत्र में, मीडिया व शिक्षा तकनीकी का मूल्यपरक शिक्षा के प्रसार में योगदान जैसे अनेक क्षेत्रों में जोर-शोर से कार्य कर रही हैं। अगस्त 1999 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा मूल्यपरक शिक्षा पर विशेषज्ञों की एक कमेटी बनाई गई, जिसमें निर्णय लिया गया कि मूल्यपरक शिक्षा को शिक्षा के स्तरों में समावेशित किया जाए तथा ज्ञान व सीखने के सभी स्तरों पर सभी विषयों के साथ मूल्यपरक शिक्षा को एकीकृत कर शिक्षण कराया जाए। इस दृष्टि से मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने ई. एच. वी. डिवीजन की स्थापना की जिसका एक केन्द्र मंत्रालय द्वारा एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली में भी स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त यू. जी. सी., नीपा, एन. सी. टी. ई., एन.आई.ओ.एस. जैसे संस्थान भी मूल्यपरक शिक्षा पर कार्य कर रहे हैं। गैर-सरकारी शिक्षा संगठन भी इस दिशा में अधिक सार्थक कार्य कर रहे हैं। श्री सत्य सांई बाबा एजुकेशनल ट्रस्ट, जैन विश्व भारती, लाडनूं जैसे संस्थान भी जीवन- मूल्यों की शिक्षा पर सघन कार्यक्रम चला रहे हैं, जो अपने आप में मील के पत्थर के समान हैं। इस विवेचना से स्पष्ट है कि मूल्यपरक शिक्षा या जीवन-मूल्यों की शिक्षा एक पृथक विधा का स्थान ले चुकी है। इसकी विषय-वस्तु इतनी व्यापक हो चुकी है कि आज शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर मूल्य आधारित शिक्षा को रखा जा सकता है। इस दृष्टि से अध्यापक शिक्षा संस्थानों में मूल्यपरक शिक्षा विषय की स्थापना एक आवश्यकता आधारित कार्यक्रम है। इस संबंध में श्री सत्य सांई बाबा बाल विकास ट्रस्ट की संयोजक श्रीमती के. मणी कहती हैं कि "आज समाज में मूल्यपरक शिक्षा को सम्यक् रूप से स्थापित करने के लिए इस दिशा में प्रशिक्षित अध्यापकों तथा श्रेष्ठ शिक्षण विधियों की प्रबल आवश्यकता है" इस चिन्तन के बाद यह तथ्य स्थापित होता है कि मूल्यपरक शिक्षा विषय में अध्यापक शिक्षा संस्थानों के अनुकूल सैद्धान्तिक पक्ष का समावेश करना चाहिए।

ईकाई 1

मूल्य का अर्थ परिभाषाएं, विशेषताएं, मूल्यों की प्रकृति, मूल्य निर्माण प्रक्रिया, मूल्यों के प्रकार व वर्गीकरण, मूल्यों को प्रभावित करने वाले घटक, मानव की पूर्णताओं में मूल्यों का स्थान, समाज व राष्ट्र की वर्तमान आवश्यकताएं, उद्देश्य व आंकाक्षाएं तथा उनके आधार पर आवश्यक मूल्य, मूल्य परिवर्तनों का समाज पर प्रभाव व उसके आधार पर सामाजिक पुनर्गठन, नैतिक व आदर्शात्मक कौशलों के विकास में मूल्यों की भूमिका।

इकाई 2

मूल्यपरक शिक्षा का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएं व प्रकृति, मूल्यपरक शिक्षा के उद्देश्य व लक्ष्य, मूल्यपरक शिक्षा का क्षेत्र, मूल्यपरक शिक्षा की आवश्यकता व महत्व, मूल्यपरक शिक्षा संबंधी आवश्यक शैक्षिक व्यवस्थाएं, मूल्यपरक शिक्षा से अपेक्षाएं, मूल्यपरक शिक्षा के राष्ट्रीय स्रोत, मूल्यों के विकास में शिक्षा की भूमिका, मूल्यपरक शिक्षा व अध्यापक के दायित्व, मूल्यपरक शिक्षा व अध्यापक शिक्षा संस्थानों की भूमिका, मूल्य निर्माण व शोधन प्रक्रिया में शिक्षा की भूमिका।

इकाई 3

मूल्यपरक शिक्षा की प्रमुख विधियां– उपदेश, आदर्श विधि, प्रभावित करने की प्रविधि, पहचान विधि, साहचर्य विधि, वेन्टीलेशन विधि, साक्षात्कार विधि, कहानी कहने की विधि, गल्पकथा विधि, मनोवैज्ञानिक अभिनय विधि, भूमिका निर्वाह विधि आदि, ● शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करने की प्रमुख तकनीकियां, ● मूल्यपरक शिक्षा की पाठ्य-सहगामी क्रियाएं, ● शान्त बैठना, ध्यान योग, कहानी कहना, प्रार्थनाएं, सामूहिक गान, आदर्शात्मक विषयों पर परिचर्चाएं, मूल्य संकट व उनके प्रभावों पर परिचर्चाएं, नाटक, श्रमदान, नारायण सेवा, मूल्यपरक विषयों पर वाद-विवाद, ग्राम सर्वेक्षण, सेमिनार, विचार-गोष्ठी आदि।

इकाई 4

मूल्यपरक शिक्षा की भावी आकांक्षाएं व स्वरूप, मूल्यपरक शिक्षा के विकास की संभावनाएं, बदलते विश्व परिदृश्य और मूल्यपरक शिक्षा, ● असन्तुलित विकास, होड़ प्रतिस्पर्धा व आर्थिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यपरक शिक्षा की भूमिका, ● मूल्यपरक शिक्षा का गत्यात्मक स्वरूप, विश्व संकट व मूल्यपरक शिक्षा की भूमिका।

इकाई 5

मूल्यपरक शिक्षा के विषय-वृत्तों का मूल्यांकन, मूल्यांकन के आधार, भारत के विभिन्न मूल्यपरक शिक्षा के कार्यक्रमों का मूल्यांकनात्मक अध्ययन।

इस प्रकार उपर्युक्त सैद्धान्तिक बिन्दुओं को रखकर पृथक् रूप से मूल्यपरक शिक्षा विषय अध्यापक शिक्षा संस्थानों में अनिवार्य व ऐच्छिक रूप से रखा जा सकता है, जिसके आधार पर भावी शिक्षकों को मूल्यपरक बनाया जा सकता है।

अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष का आयोजन

अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में शिक्षा के प्रायोगिक व व्यावहारिक पक्ष का अत्यधिक महत्व रहता है। बिना व्यावहारिक ज्ञान के प्रायः सभी प्रकार के प्रशिक्षण अधूरे रहते हैं क्योंकि प्रयोग व अभ्यास से ही किसी भी ज्ञान को आत्मसात् किया जा सकता है। शिक्षा क्षेत्र की विभिन्न विधाओं के कौशलों व तकनीकियों के विकास की दृष्टि से उनके प्रायोगिक पक्ष को विशेष महत्व दिया जाता है। इस दृष्टि से मूल्यपरक शिक्षा को अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में पाठ्य-सहगामी क्रियाओं व अनेक प्रायोगिक मापदण्डों के रूप में रखा जा सकता है। जिसका स्वरूप अध्यापक शिक्षा पाठ्यक्रम में इस प्रकार हो सकता है–

अध्यापक शिक्षा की पाठ्य-सहगामी क्रियाएं व मूल्य परक शिक्षा– श्रमदान, परिचर्चाएं, वाद-विवाद, भाषण, प्रार्थनाएं, सेमिनार, कार्यशालाएं, विचार-विमर्श, नारायण सेवा, मूल्यपरक चिन्तन व लेखन प्रतियोगिताएं।

अध्यापक शिक्षा की अनुसंधानात्मक गतिविधियां व मूल्यपरक शिक्षा– मूल्यपरक शिक्षा के क्षेत्र में क्रियात्मक अनुसंधान, मूल्यपरक शिक्षा के क्षेत्र में शोध परियोजनाएं, अध्यापक शिक्षा संस्थानों में मूल्यपरक शिक्षा प्रकोष्ठ की स्थापना करना।

सेवारत शिक्षकों को मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करने में अध्यापक शिक्षा संस्थानों की भूमिका

जब अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में मूल्यपरक शिक्षा के स्वरूप की चर्चा हो तथा सेवारत शिक्षा का प्रसंग नहीं लिया जाए तो यह एक प्रकार की बेमानी होगी। सेवारत शिक्षकों को मूल्यपरक शिक्षा का ज्ञान व समाज की आवश्यकता के आधार पर मूल्यों के विकास व उसकी स्थापना का प्रशिक्षण देने का उत्तरदायित्व प्रथम दृष्टि में ही अध्यापक शिक्षा संस्थानों का है। इस दृष्टि से सेवारत शिक्षकों को उनके शिक्षा पंचांग की सुविधा के आधार पर मूल्यपरक शिक्षा आधारित शिविर आयोजित किए जाएं जिनमें उनको नवीन मूल्यों की जानकारी, मूल्य निर्माण प्रक्रिया, अवधारणाओं की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा की नवीन विधियों की जानकारी, शाश्वत मूल्यों की स्थापना व सुरक्षा की विधियों व कौशलों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा

प्रदान करने के व्यावहारिक सूत्रों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा के प्रभाव को मापने के सूत्रों व विधियों की जानकारी, मूल्यपरक शिक्षा से जुड़ी पाठ्य-सहगामी क्रियाओं की जानकारी कराई जाए ताकि सेवारत शिक्षक वर्तमान शिक्षा को राष्ट्र व समाज की आशाओं व आकांक्षाओं के अनुकूल बना सके।

इस प्रकार अध्यापक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सैद्धान्तिक व प्रायोगिक दोनों पक्षों में मूल्यपरक शिक्षा की आयोजना करने से ही वर्तमान वैश्विक समाज की स्थापना की जा सकती है क्योंकि शिक्षक ही भावी समाज के निर्माता व मार्गदर्शक होते हैं। अतः इस सम्पूर्ण विवेचना से यह सार मन्तव्य निकलता है कि आज का संसार मूल्य संकट के दौर से गुजर रहा है और इस संकट निवारण का मुख्य हल शिक्षा के पास है। अतः आज शिक्षा मन्दिरों का मुख्य दायित्व है वर्तमान समाज की आशाओं व आकांक्षाओं के अनुकूल शैक्षिक आयोजना एवं शैक्षिक उत्पाद प्रदान करें ताकि सम्यक् समाज का निर्माण हो सके। इस दृष्टि से अध्यापक शिक्षा संस्थानों में मूल्यपरक शिक्षा का अनिवार्य समावेश आवश्यकता आधारित कार्यक्रम है। ऐसा न होने पर सामाजिक पटल पर अध्यापक शिक्षा संस्थानों की गुणवत्ता व उपादेयता पर प्रश्नचिन्ह लग सकता है......। ❑❑

गांधी विद्या मन्दिर
सरदारशहर, राजस्थान

मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य संबंध का अध्ययन

❑ हंसराज पाल

सामान्य विद्यालयों में विभिन्न बुद्धि, समायोजन, रुचि, महत्वाकांक्षा, व्यक्तित्व, अभिक्षमता, उपलब्धि, चिंता आदि के विद्यार्थी अध्ययन करते हैं। इनकी समस्याएं भी इन परिवर्तियों के परिप्रेक्ष्य में अलग-अलग होती हैं। किन्तु विशिष्ट बालकों जैसे– प्रतिभाशाली, मन्दबुद्धि, पिछड़ा, अधिगम निर्योग्य, दृष्टिहीन, मूक-बधिर इत्यादि की समस्याएं सामान्य बालकों से अलग होती हैं। उनका पाठ्यक्रम भी अलग होने के साथ ही उनकी अध्यापन विधियां भी अलग होती हैं। अतः सामान्य विद्यार्थियों पर किए गए शोध अध्ययनों के निष्कर्ष विशिष्ट बालकों पर प्रयुक्त नहीं हो सकते।

सामान्य बालकों पर अनेक शोध किए गए हैं, पर विशिष्ट शिक्षा के क्षेत्र में विशेषकर मूक-बधिर बालकों पर अल्प शोध किए गए हैं, जैसे– तिवारी (1983) ने इन्दौर शहर के कुछ मूक-बधिर व अंध विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। बाला (1985) ने सामान्य तथा शारीरिक विकलांग विद्यार्थियों के मानसिक संकल्प व शैक्षिक सुविधाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। शर्मा (1988) ने अपने एक अध्ययन में शिक्षण सहायक सामग्री के प्रयोग से बधिर विद्यार्थियों (कक्षा 1 से 5 तक) की संकल्पना को विकसित करने संबंधी अन्वेषणात्मक अध्ययन किया। शर्मा (1990) ने हरियाणा तथा दिल्ली के विशिष्ट विद्यालय तथा एकीकृत श्रवण बाधित विद्यालयों के विद्यार्थियों की भाषिक क्षमता का अन्वेषणात्मक अध्ययन किया। कपूर (1990) ने सामान्य व बधिर विद्यार्थियों के संज्ञानात्मक कार्य तथा प्रत्यक्षीकरण की क्षमता का विश्लेषणात्मक तुलनात्मक अध्ययन किया। मेंडकी (1991) ने ऊंचा सुनने वाले विद्यार्थियों पर वाणी व भाषा विकास पर एकल विषय (दृश्य व शृव्य) के रूप में उद्दीपकों के प्रभाव का अध्ययन किया। परान्जपे (1991) ने श्रवण बाधित बच्चों की भाषा विकास व समाजीकरण की प्रक्रिया पर पूरक शैक्षिक कार्यक्रम के प्रभाव का अध्ययन किया तथा माता-पिता के शैक्षिक कार्यक्रम की उनके विकलांग बच्चों के प्रति जागरूकता तथा स्वीकारोक्ति के प्रभाव का भी अध्ययन किया। साहू (1991) ने उड़ीसा के सामान्य, अंधे व मूक-बधिर बच्चों के व्यवहार की विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। शर्मा तथा पाण्डे (1992) ने एकीकृत व विशिष्ट विद्यालय के श्रवण-बाधित विद्यार्थियों पर विज्ञान की अनुदेशनात्मक सामग्री के प्रभाव का अध्ययन किया।

उक्त शोध अध्ययनों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन हुए, परंतु मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य संबंध पर कोई शोधकार्य नहीं किया गया। इससे प्रस्तुत अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित होती है।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के निम्न उद्देश्य थे–

❑ मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना।

- ☐ मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना।
- ☐ मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना।

परिकल्पनाएं

प्रस्तुत अध्ययन हेतु निम्न परिकल्पनाएं बनाई गईं—

- ☐ मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के फलांकों के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा।
- ☐ मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के फलांकों के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा।
- ☐ मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के फलांकों के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा।

न्यादर्श

प्रस्तुत अध्ययन हेतु इन्दौर शहर के चार मूक-बधिर विद्यालयों के सत्र 2001-02 में अध्ययनरत् 25 मूक-बधिर छात्र व 25 मूक-बधिर छात्राओं का यादृच्छिक रूप से चयन किया गया। चयनित छात्र-छात्राओं का उम्र समूह 12-20 वर्ष के मध्य था तथा विद्यार्थी शहरी व ग्रामीण क्षेत्र के थे तथा सामान्य, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़ा वर्ग के थे।

उपकरण

प्रस्तुत अध्ययन में सृजनात्मकता व बुद्धि दो परिवर्तियों के संबंध का अध्ययन किया गया, जिनके मापन हेतु निम्न उपकरणों का उपयोग किया गया—

सृजनात्मकता— सृजनातमकता का मापन बाकर मेंहदी के "सृजनात्मक चिंतन का अशाब्दिक परीक्षण" (हिन्दी) द्वारा किया गया। इस परीक्षण का विश्वसनीयता गुणांक पुनर्परीक्षण विधि से .93 से .94 है। इस परीक्षण में तीन कार्य दिए गए हैं, जिसके लिए 30 मिनट का निर्धारित समय दिया गया है। पहला कार्य 5 मिनट का है जिसमें दो आकृतियां दी गई हैं। प्रत्येक आकृति को अंग मानकर कोई ऐसा चित्र सोचकर बनाना होता है जो आपके विचार में कोई और न सोच सकता हो। दूसरा कार्य 15 मिनट का है, जिसमें 10 अपूर्ण आकृतियां दी गई हैं प्रत्येक आकृति को पूरा करने के लिए रेखाओं की सहायता से आपको ऐसा नवीन तथा रोचक चित्र बनाना है, जो आपके विचार में कोई और न सोच सकता हो तथा चित्र के नीचे एक अनोखा व रोचक शीर्षक लिखना होता है। तीसरा कार्य जिसमें सात त्रिभुजाकार तथा सात अण्डाकार आकृतियां दी गई हैं। यह कार्य भी उपरोक्त अनुसार ही करना है, इस कार्य का समय 10 मिनट का है। इस परीक्षण से नम्यता, मौलिकता तथा विस्तारण निकाल कर विद्यार्थी की सृजनात्मकता का स्तर ज्ञात किया जाता है।

बुद्धि— बुद्धि का मापन ओझा तथा रे चौधरी द्वारा निर्मित "वाचिक बुद्धि परीक्षण" द्वारा किया गया। इस परीक्षण का विश्वसनीयता गुणांक अर्द्ध-विच्छेद विधि से .87 तथा कुडर-रिचर्डसन विधि से .91 है। इसके अलावा इस परीक्षण में सरल हिन्दी भाषा का प्रयोग किया गया है। यह परीक्षण वस्तुनिष्ठ वाचिक बुद्धि परीक्षण है। इसके द्वारा सामान्य मानसिक बुद्धि (योग्यता) की परीक्षा की जाती है। इस परीक्षण में आठ भाग हैं जैसे— वर्गीकरण, तुल्यात्मकता, पर्याय, संख्यात्मक परीक्षण, शब्द चयन, परिच्छेद परीक्षण, उत्तम तर्क, सरल तर्क। इस प्रकार इस परीक्षण में कुल 112 प्रश्न हैं, जिनके फलांकों का कुल योग अधिक से अधिक 112 हो सकता है। संपूर्ण परीक्षण के लिए 40 मिनट निश्चित किए गए हैं।

प्रदत्त संकलन विधि

प्रस्तुत अध्ययन में प्रदत्त संकलन हेतु मूक-बधिर विद्यालयों में जाकर प्राचार्य से संपर्क कर प्रदत्त संकलन की अनुमति ली। इन विद्यालयों में न्यादर्श के रूप में चयनित विद्यार्थियों पर बुद्धि व सृजनात्मकता मापन के चयनित उपकरणों को प्रशासित कर प्रदत्त संकलित किए गए।

प्रदत्त विश्लेषण— प्रस्तुत अध्ययन में प्रदत्तों के विश्लेषण के लिए सांख्यिकी तकनीक के रूप में कार्ल पियर्सन की सहसंबंध गुणांक विधि का प्रयोग किया गया है।

परिणाम व चर्चा

प्रस्तुत अध्ययन के उद्देश्यानुसार परिणाम व चर्चा यहां

प्रस्तुत है–

मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध– प्रस्तुत अध्ययन का प्रथम उद्देश्य मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना था। इस उद्देश्य से संबंधित प्रदत्तों का विश्लेषण कार्य पियर्सन की सहसंबंध गुणांक विधि की सहायता से किया गया है। जिसका परिणाम तालिका 1 में दिया गया है।

तालिका 1: मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणांक व सार्थकता स्तर का मान

चर	*छात्रों की संख्या*	*सहसंबंध गुणांक*
बुद्धि व सृजनात्मकता	25	–.21[#]

[#] .05 सार्थकता स्तर पर सार्थक नहीं।

तालिका 1 के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणांक का मूल्य -.21 है, जो सूक्ष्म व नगण्य ऋणात्मक सहसंबंध है जो .05 सार्थकता स्तर पर सार्थक नहीं है। मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य एकरूपता का प्रतिशत 4.41 है, जो कि नहीं के बराबर है। मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य संबंध नहीं होने के शायद निम्नलिखित कारण हो सकते हैं। मूक-बधिर छात्रों में श्रवण व वाणी दोष होने के कारण–

● उनमें भाषा संबंधी न्यूनताएं, भाषा संचार तथा अभिव्यक्ति में बाधा तथा कठिन शब्दावली की समझ सीमित पाए जाने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● उनका शिक्षण संकेत भाषा व लिखित रूप में किए जाने से उनको विषय-वस्तु की समझ में कठिनाई तथा उनका सूचना संसाधन कौशल पूर्ण रूप से विकसित ने होने से उनमें समस्याओं के समाधान, उत्पादनों के सृजन तथा नए ज्ञान की प्राप्ति में बाधा आती है, जिससे उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● उनके अभिभावकों द्वारा अन्य संतानों की तुलना में भेदभाव करने से उनमें कुण्ठा, भय, डर, तनाव, चिंता अकेलापन आदि बना रहता है, जिससे उनके व्यवहार व उपलब्धि पर असर होना। ● उनमें संवेगात्मक, सामाजिक, व्यक्तित्व व शैक्षिक समायोजन की समस्या होने तथा क्रियाशीलता, मौलिक चिंतन, विविधता, प्रवाहता आदि गुणों का प्रभाव कम होने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● उनमें भाषा विज्ञानी, तार्किक गणितीय, शैक्षिक, शारीरिक गतिज, अन्तर वैयक्तिक व स्वगत जैसी स्वतंत्र बुद्धियों तथा विषय-वस्तु (दृश्यक, सांकेतिक, अर्थगत, व्यवहारगत) उत्पादन और संक्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती होगी, जिससे उनका व्यवहार व उपलब्धि का प्रभावित होना। ● विद्यालयी वातावरण, शिक्षण विधियों, पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों, सहायक साधन व सामग्रियों आदि तथा शिक्षकों के अध्यापन व व्यवहार का उन पर कम असर हुआ होगा, जिसके कारण उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना।

इसलिए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य संबंध नहीं है। तथा यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं है। अतः इस संदर्भ में शून्य परिकल्पना कि "मूक-बधिर छात्रों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा" अस्वीकार नहीं की गई।

मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध– प्रस्तुत अध्ययन का द्वितीय उद्देश्य मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना था। इस उद्देश्य से संबंधित प्रदत्तों का विश्लेषण कार्ल पियर्सन की सहसंबंध गुणांक विधि की सहायता से किया है, जिसका परिणाम तालिका 2 में दिया गया है।

तालिका 2 के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणांक का मूल्य -.40 है, जो निम्न परंतु निश्चित ऋणात्मक सहसंबंध है जो .05 सार्थकता स्तर पर सार्थक

तालिका 2: मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणांक तथा सार्थकता स्तर का मान

चर	*छात्रों की संख्या*	*सहसंबंध गुणांक*
बुद्धि व सृजनात्मकता	25	–.40#

.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक।

है। मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य एकरूपता का प्रतिशत 16 है, जो निम्न स्तर का है। मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य अल्प व ऋणात्मक संबंध होने के शायद निम्नलिखित कारण हो सकते हैं, कि मूक-बधिर–

● छात्राओं को उनके अभिभावकों द्वारा अन्य संतान के समान व्यवहार करने से उनमें आत्मविश्वास तथा समाज द्वारा उन्हें सहयोग, अपनत्व, प्रोत्साहन आदि देने से उनकी उपलब्धि पर असर होना। ● छात्राओं में भाषा विज्ञानी, तार्किक गणितीय, शैक्षिक, शारीरिक, गतिज, अन्तर वैयक्तिक तथा स्वगत जैसी स्वतंत्र बुद्धियों के उपयोग के प्रभाव से उनकी उपलब्धि व व्यवहार पर असर होना। ● छात्राओं में व्यक्तिगत, संवेगात्मक, सामाजिक, शैक्षिक समायोजन होने से उपलब्धि पर प्रभाव। ● छात्राओं में क्रियाशीलता, मौलिकता, प्रवाहता, जिज्ञासा, संवेदनशीलता आदि गुणों के होने से उनकी सृजनशीलता का प्रभावित होना। ● छात्राओं में कठिन शब्दावली की समझ तथा भाषा संचार तथा अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित होने से उनकी उपलब्धि पर असर होना। ● छात्राओं पर संकेत भाषा व लिखित रूप से शिक्षण, विद्यालय की व्यवस्थाओं, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों सहायक सामग्री व साधनों आदि से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● छात्राओं की विषय-वस्तु में रुचि, एकाग्रता, पूर्वज्ञान आदि तथा शिक्षकों के साथ अन्तःक्रिया कर समस्याओं का समाधान करने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना।

इसलिए निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य अल्प संबंध है तथा यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध है। अतः इस संदर्भ में शून्य परिकलपना कि "मूक-बधिर छात्राओं की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा" स्वीकार नहीं की जाती।

मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध– प्रस्तुत अध्ययन का अंतिम उद्देश्य मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध ज्ञात करना था। इस उद्देश्य से संबंधित प्रदत्तों का विश्लेषण कार्ल पिर्यसन की सहसंबंध गुणांक विधि की सहायता से किया है, जिसका परिणाम तालिका 3 में दिया गया है।

तालिका 3: मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणों व सार्थकता स्तर का मान

चर	*छात्रों की संख्या*	*सहसंबंध गुणांक*
बुद्धि व सृजनात्मकता	50	–.30#

.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक।

इस तालिका के निरीक्षण से यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सहसंबंध गुणांक का मूल्य -.30 है, जो निम्न परंतु निश्चित ऋणात्मक सहसंबंध है जो कि .05 सार्थकता स्तर पर सार्थक है। मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य अल्प व ऋणात्मक संबंध होने के शायद निम्नलिखित कारण हो सकते हैं, कि मूक-बधिर–

● विद्यार्थियों में संकेत भाषा व लिखित रूप से शिक्षण, विद्यालय का वातावरण, बैठक व्यवस्था, शिक्षण

सामग्री तथा साधन, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों आदि से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● विद्यार्थियों की विषय-वस्तु में रुचि, पूर्व-ज्ञान, एकाग्रता, रोचक शिक्षण विधियों आदि व शिक्षकों के साथ अन्तःक्रिया कर समस्याओं के समाधान करने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● विद्यार्थियों के अभिभावकों तथा शिक्षकों के मध्य इनकी समस्याओं व व्यवहार पर संयुक्त रूप से विचार-विमर्श करने तथा उन्हें उपयुक्त सुविधाएं प्रदान करने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● विद्यार्थियों का समय-समय पर विशेषज्ञों से चिकित्सीय तथा मनोवैज्ञानिक परीक्षण करने तथा परिणामानुसार उचित परामर्श देने से उनकी उपलब्धि का प्रभावित होना। ● विद्यार्थियों के अभिभावक शैक्षिक व सामाजिक रूप से जागरूक होने तथा उन्हें अन्य संतानों के समान व्यवहार करने से उनमें आत्मविश्वास तथा समाज द्वारा सहयोग, अपनत्व व प्रोत्साहन देने से उनकी उपलब्धि व व्यवहार पर असर होना। ● विद्यार्थियों में संवेगात्मक, सामाजिक, शैक्षिक व वैयक्तिक समायोजन होने तथा क्रियाशीलता, मौलिक चिंतन, प्रवाहता, नम्यता आदि गुणों से उनकी सृजनशीलता का प्रभावित होना। ● विद्यार्थियों में कठिन शब्दावली की समझ तथा भाषा संचार व अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित होने से भी उपलब्धि पर असर होना।

इसलिए निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य अल्प संबंध है तथा यह ज्ञात होता है कि मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध है। अतः इस संदर्भ में शून्य परिकल्पना कि "मूक-बधिर विद्यार्थियों की बुद्धि व सृजनात्मकता के मध्य सार्थक सहसंबंध नहीं होगा" स्वीकार नहीं की जाती। □□

ए-3 यूनीवर्सिटी टीचर्स क्वाटर्स
ए.बी. रोड, इंदौर
मध्य प्रदेश

21वीं शताब्दी में मानवाधिकार शिक्षा– महत्व व आवश्यकता

❒ अनिल गुप्ता
❒ विनोद टेकचन्दानी

मानवाधिकार एक ऐसा विषय है जिसका संबंध न केवल भारत जैसे विकासशील देशों से है बल्कि विकसित व अविकसित सभी देशों में वर्तमान समय में मानवाधिकार हनन् के मामलों में प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पास 1 अप्रैल, 2000 को कुल 74,899 मामले विचाराधीन थे। मानवाधिकारों की शिक्षा का तात्पर्य मनुष्यों को इस एकात्मकता का बोध कराने से है। वस्तुतः मानवाधिकार शिक्षा के महत्वपूर्ण तत्व मानवीय मूल्यों की स्थापना करना, दूसरों के अधिकारों का सम्मान व आत्मगौरव की भावना का विकास करना होता है। मानवाधिकार शिक्षा को बढ़ावा देने के साथ ही सरकार व गैर-सरकारी तथा स्वैच्छिक संगठन सभी को आपसी सहयोग के माध्यम से समाज को अधिकारों के प्रति अधिक सशक्त व जागरूक बनाने का प्रयास करना चाहिए।

मानवाधिकार एक ऐसा विषय है जिसका संबंध न केवल भारत जैसे विकासशील देशों में है बल्कि विकसित व अविकसित सभी देशों में वर्तमान समय में मानवाधिकार हनन् के मामलों में प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानवाधिकार दशक (1955-2004) में यदि हम मानवाधिकार की स्थिति की चर्चा करें, तो अत्यन्त भयावह तस्वीर हमारे सामने आती है। कदाचित् भारत में मानवाधिकार की यह तस्वीर भी कम भयानक नहीं है। गृह युद्ध में झुलस रहे देशों— यूगोस्लाविया, रुगाण्डा, अफगानिस्तान, सोमालिया, सूडान आदि में तो मानवाधिकारों के उल्लंघन की बात समझ में आती है, परन्तु भारत जो कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है और जहां लोकतंत्र पूर्ण सुस्थापित है। भारत में मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए संविधान के गठन के समय से ही प्रयास किए जाते रहे हैं। भारतीय संविधान में मानवाधिकारों की रक्षा हेतु मौलिक अधिकारों के रूप में भाग 3 तथा नीति निर्देशक तत्वों के रूप में भाग 4 सम्मिलित किया गया है। इसी के साथ देश में एक स्वतंत्र राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की स्थापना 12 अक्तूबर, 1994 को की गई। इसी के साथ राज्यों के अपने-अपने अलग राज्य मानवाधिकार आयोग हैं। जिला स्तर पर मानवाधिकार न्यायालयों की स्थापना की गई है। इतना सब कुछ होते हुए भी भारत में मानवाधिकारों की स्थिति दयनीय! भारत के संदर्भ में यदि हम मानवाधिकार की चर्चा करें, तो चौंकाने वाले आंकड़े हमारे सामने आते हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पास 1 अप्रैल, 2000 को कुल 74,899 मामले विचाराधीन थे। जिनमें से आयोग द्वारा 1461 मामलों की जांच कर कार्यवाही की गई। ये सरकारी आंकड़े वास्तविकता की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इससे स्पष्ट होता है कि आयोग भी भारत की जनता के मानवाधिकारों के संरक्षण में पूर्ण सफल नहीं हो पा रहा है। जिसका प्रमुख कारण यहां की जनता में

मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता की कमी को माना जा सकता है और किसी भी समाज में नागरिकों की जागरूकता ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था का मूल आधार होती है।

शिक्षा हमें अपने आसपास के परिवेश को नई दृष्टि के साथ समझने की शक्ति देती है। शिक्षा यह समझ पैदा करती है कि मानवीय संवेदनाओं और आशाओं में जाति, वर्ण, भाषा, संस्कृति बदल सकती है। संकीर्णता, कटुता का पराभाव हो सकता है और सहिष्णुता तथा दूसरे की भावनाओं और आकांक्षाओं का सम्मान करने की भावना इसका स्थान ले सकती है। यही शिक्षा का उद्देश्य भी है। अतः मानवाधिकारों की शिक्षा मानवीय मूल्यों, मानवीय गरिमा, निष्पक्ष, शोषण विहीन मानवीय विकास का साधन है। इस दृष्टि से यह मानवाधिकारों की संचेतना व सुरक्षा का प्रभावी तथा महत्वपूर्ण साधन भी है।

किसी समाज के नागरिकों में जागरूकता का स्तर उस समाज के शैक्षणिक स्तर पर निर्भर करता है अर्थात् जो समाज जितना अधिक शिक्षित होता है वहां के नागरिक उतने ही अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हैं। 40 करोड़ निरक्षर व्यक्तियों वाले देश भारत में जिसकी लगभग आधी महिलाएं निरक्षर हैं, के अखबार जातीय और पुलिसिया अत्याचार की खबरों से हर रोज भरे रहते हैं; उस देश में मानवाधिकारों की स्थिति का अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं। मानवाधिकारों की जानकारी व संरक्षण के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा ही वह माध्यम है, जो मानवाधिकारों की जानकारी सर्वसाधारण तक पहुंचाकर, उन्हें अपने अधिकार के प्रति जागरूक करने, राष्ट्रीय निर्माण में उनकी भूमिका का महत्व बढ़ाने के साथ ही लोगों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाकर मानवाधिकारों के सम्मान के प्रति, उनमें गहरी आस्था जमा सकती है। इस दृष्टि से शिक्षा मानवाधिकारों की संचेतना सुरक्षा का साधन है।

क्या हैं मानवाधिकार?

मानवाधिकार एक ऐसा विषय है जिसे परिभाषित करना बहुत कठिन है क्योंकि मानवाधिकारों का संबंध उन सभी अधिकारों से होता है जो कि एक मानव को मानव के रूप में जीने के लिए अनिवार्य होते हैं। मानवाधिकार के अन्तर्गत उन अधिकारों को रखा जाता है जो मानव को स्वतंत्रता, समानता व गरिमा के साथ जीने का अधिकार देते हैं। भारतीय मानवाधिकार अधिनियम, 1933 की धारा 2, घ के अन्तर्गत कहा गया है कि मानवाधिकारों से तात्पर्य संविधान द्वारा गारण्टीकृत तथा अन्तर्राष्ट्रीय संविदाओं में सम्मिलित व भारतीय न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता व गरिमा से है। वस्तुतः मानवाधिकार का संबंध मात्र मानवीय पक्ष की संवेदना, सहयोग व वैचारिक आदान-प्रदान तक ही सीमित नहीं होता बल्कि यह किसी भी सभ्य व सुसंस्कृत समाज का व्याकरण होता है, जिसके मूल में मानव गरिमा, न्याय, निष्पक्ष व शोषण रहित सामाजिक न्याय निहित रहता है। मानवाधिकारों के अन्तर्गत वे सभी अधिकार सम्मिलित किए जा सकते हैं जो व्यक्ति को उसमें निहित मूल प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि यह कहें कि इनका संबंध मानवीयता से है, तो गलत न होगा। मानव के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए ही मानवाधिकारों की कल्पना की गई है। जिसके प्रति 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ में, भारत सहित दुनिया के 137 राष्ट्रों ने अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की है। संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार के अन्तर्राष्ट्रीय विधेयक के अन्तर्गत समानता, शिक्षा, धर्म, सामाजिक सुरक्षा, मानवीय व्यवहार, न्याय, आत्मनिर्णय का अधिकार, विकास का अधिकार, उपेक्षित वर्गों के लोगों के विशेष संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति के अधिकार सम्मिलित हैं। 1989 में इसमें बच्चे के अधिकारों व 1993 में वियना और 1995 पेइचिंग में हुए सम्मेलनों के बाद महिलाओं के अधिकारों को भी सम्मिलित किया गया है। इनके द्वारा बच्चों को उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं, पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा तथा महिलाओं को राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक गतिविधियों में सम्मान रूप से भाग लेने के अधिकार प्रदान किए गए हैं, परन्तु इस चार्टर

के लागू होने के 54 वर्ष बाद भी दुनिया के सभी देशों में कम या अधिक मानवाधिकारों का उल्लंघन निर्बाध रूप से जारी है। मानवाधिकारों पर जारी होने वाली रिपोर्ट इस तथ्य की पुष्टि करती है। मानवाधिकरों के उल्लंघन को रोकने में शिक्षा एक प्रभावी भूमिका निभा सकती है।

पर्यावरण संरक्षण, नारीवादी आन्दोलनों, विकास आन्दोलनों, अल्पसंख्यकों व आदिवासियों तथा उनकी संस्कृति के संरक्षण के लिए चलाए जा रहे आन्दोलनों, बालश्रम और हर तरह के शोषण के विरुद्ध चलने वाले आन्दोलनों ने मानवाधिकारों की अवधारणा के प्रति भी लोगों को जागरूक किया है।

मानवाधिकार शिक्षा का अर्थ

संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकारों संबंधी अंतर्राष्ट्रीय विधेयक के अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि "सभी मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र हैं तथा अधिकार व मर्यादा में समान हैं, उनमें विवेक तथा बुद्धि है तथा उन्हें एक-दूसरे के साथ भ्रातृभाव युक्त व्यवहार रखना चाहिए।" मानवाधिकारों की शिक्षा का तात्पर्य मनुष्यों के प्रति सम्मान के भाव और इनके संरक्षण के लिए एक ऐसी कार्य संस्कृति का निर्माण करे जो प्रत्येक मनुष्य को मूलभूत अधिकारों व स्वतंत्रताओं के प्रति संवेदनशील तथा जागरूक बनाती हो। मानवाधिकार शिक्षा ही वह साधन है जो व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक उत्थान के लिए भेदभाव रहित समान अवसर उपलब्ध कराती है। साथ-ही-साथ न्याय और आत्मनिर्णय के अधिकार के संरक्षण में भी सहयोग प्रदान करती है। मानवाधिकार शिक्षा ही मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता, समझ, ज्ञान और कौशल विकसित कर एक सभ्य समाज का निमार्ण कर सकती है, जिसमें मानव की अन्तर्निहित गरिमा का आदर होगा और मनुष्यों को सभी प्रकार के विभेद और तिरस्कार से निषिद्ध रखा जा सकेगा। सामंती और औपनिवेशक अतीत वाले भारत में जहां अशिक्षा, अज्ञानता और रूढ़ियों का मकड़जाल चारों तरफ फैला है, वहां मानवाधिकारों की शिक्षा का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। मानवाधिकार शिक्षा ही सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में बदलाव लाकर वह आधार प्रदान कर सकती है जो समाज में वैमनस्यता, रूढ़िवादिता तथा हिंसा को कम कर सहिष्णुता, समानता और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के माध्यम से मानवाधिकार हनन् के मामलों में कमी लाने में सहयोगी हो सकती है। इसके लिए हमें मानवाधिकार शिक्षा के उद्देश्यों की जानकारी प्रदान करने के लिए उन्हें प्रचारित, प्रसारित करना होगा।

मानवाधिकार शिक्षा के उद्देश्य

मानवाधिकार शिक्षा का प्रमुखतः उद्देश्य व्यक्ति को उसके अधिकारों से परिचित कराना होता है। इसी के साथ मानवाधिकार शिक्षा का लक्ष्य विश्व के सभी मनुष्यों को मानवता की साझी भाषा सिखाना है। जिसके माध्यम से विश्व शांति की स्थापना के साथ-साथ मानवाधिकारों के सम्मान व संरक्षण को प्रतिदिन के कार्य व्यवहार की संस्कृति का हिस्सा बनाना है। इसके लिए मानवाधिकार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों को सुझाया जा सकता है—

- राष्ट्रीय संविधान, सार्वभौमिक घोषणा व अन्तर्राष्ट्रीय संविदाओं आदि में निहित मानवाधिकारों की जानकारी प्रदान कर उनके प्रति जागरूकता उत्पन्न करना।
- लोगों को मानवाधिकारों का ज्ञान प्रदान कर उनमें जागरूकता उत्पन्न करना ताकि वे अन्य लोगों की मौलिक स्वतन्त्राओं का आदर करना सीखें।
- सार्वभौमिक मूल्यों जैसे सहिष्णुता, आदर, उत्तरदायित्वता, अनुशासन आदि का विकास करना।
- व्यक्तियों के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के माध्यम से राष्ट्र निमार्ण में सहायता प्रदान करने हेतु लोगों के व्यवहार को परिवर्तित करना।
- लोगों को मानवाधिकारों के संरक्षण और संवर्द्धन की शिक्षा देना।
- संसार के विभिन्न जातीय, राष्ट्रीय, भाषायी, धार्मिक और सांस्कृतिक समूहों के बीच एकात्मकता की भावना का विकास करना।
- शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को सशक्त करने के लिए सार्थक प्रयास करना।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति व मानवीय विकास सम्बंधी प्रयासों की जानकारी देकर, इन प्रयासों को बढ़ावा

देना।

- एक स्वतंत्र समाज में मनुष्य को उसकी कारगर भूमिका के लिए तैयार करना।
- गरिमापूर्ण, निष्पक्ष, शोषण रहित मानवीय समाज की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सचेष्ट प्रयास करना।
- समाज के पिछड़े व कमजोर वर्गों में जागरूकता उत्पन्न करना ताकि उनमें आत्मविश्वास पैदा हो और वे अपने अधिकारों की संरक्षा के प्रति सचेष्ट हों।
- लोगों को पूर्वाग्रहों को छोड़ने और दूसरों के प्रति दुर्भावनाओं को त्यागने के लिए तैयार करना।
- ज्ञान की प्रकृति, प्रविधि और प्रक्रिया में सुधार करना ताकि वह कार्य संस्कृति के ऐसे कौशलों तथा तौर-तरीकों का विकास कर सके जो मानव गरिमा के अनुरूप हों।
- पर्यावरण तथा राष्ट्रीय धरोहर आदि की सुरक्षा से संबंधित जानकारी प्रदान कर देश के विकास में सहयोग प्रदान करने हेतु तैयार करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवाधिकार शिक्षा प्रदान करने हेतु सरकारी व गैर-सरकारी सभी स्तरों पर एक सुसंगठित रूप से शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता है। इस कार्य हेतु किसी एक संस्था या व्यक्ति पर निर्भर नहीं रहा जा सकता, बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मानवाधिकार शिक्षा को बढ़ावा देने को अपना कर्तव्य मानते हुए इस क्षेत्र में अधिक से अधिक योगदान देना चाहिए। मानवाधिकार शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं के आधार पर इसे तीन भागों में बांटा जा सकता है।

औपचारिक शिक्षा— औपचारिक शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है जो सरकारी संस्थाओं या निजी संस्थाओं द्वारा दी जाती है और इसके लिए सरकार द्वारा एक पाठ्यक्रम निश्चित किया हुआ होता है। मानवाधिकारों से संबद्ध शिक्षा तो विभिन्न परम्परागत विषयों (इतिहास, भूगोल, दर्शन, समाजशास्त्र, विधि, शिक्षाशास्त्र और राजनीति शास्त्र आदि) के साथ ही उनके पाठ्यक्रमों में मानवाधिकारों के तत्वों को सम्मिलित किया जा सकता है। भारत में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राष्ट्रीय शिक्षा शोध और प्रशिक्षण परिषद् आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिनके दिशा-निर्देशों पर ही देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों व स्कूलों के पाठ्यक्रमों में मानवाधिकारों से संबंधित विषय को पढ़ाए जाने पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इस प्रकार की शिक्षा में सामान्यतः निम्नलिखित पाठ्यक्रम होता है।

- मानवाधिकार की अवधारणा, सिद्धांत और नियम।
- मानवाधिकारों से संबंधित प्रमुख संवैधानिक प्रावधान।
- भारत में मानवाधिकारों की स्थिति।
- समानता की शिक्षा।
- सामाजिक संरचना व मूल्यों की शिक्षा।
- लोकतंत्र और मानवाधिकार।
- मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता में मीडिया की भूमिका।
- पर्यावरण संरक्षण के उपाय।
- राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव।
- मानवाधिकार संरक्षण में संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रीय तथा राज्य मानवाधिकार आयोगों की भूमिका।

अनौपचारिक शिक्षा— मानवाधिकरों की शिक्षा केवल कक्षा में औपचारिक रूप से ही नहीं दी जा सकती वरन् यह अनौपचारिक रूप से भी समाज के विभिन्न समूहों को दी जा सकती है। मानवाधिकार के क्षेत्र में अनौपचारिक शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा प्रणाली से होता है जो किसी संस्था द्वारा एक विशेष समूह के लिए दी जाती है। इसमें पाठ्यक्रम उस समूह को ध्यान में रखते हुए बनाया जाता है। इस क्षेत्र में गैर-सरकारी तथा स्वैच्छिक संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विशेषतः राजस्थान जैसे राज्य में उरमूल ट्रस्ट जैसे गैर-सरकारी संगठन द्वारा शुरू की गई शिक्षा कर्मी योजना के परिणामों से प्रभावित होकर सरकार द्वारा इस योजना को सरकारी सहायता के माध्यम से जारी रखा गया है। इसी प्रकार राजस्थान की लोक जुम्बिस परियोजना, मरूशाला शिक्षा, बालिका शिविर, चित्रशाला आदि परियोजनाओं के माध्यम से शिक्षा के साथ-साथ मानवाधिकारों की जानकारी प्रदान की जाती है। इन संस्थाओं द्वारा मानवाधिकारों की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए न केवल पाठशालाओं का सहारा लिया जाता

है बल्कि अन्य माध्यमों जैसे—चलचित्रों, ड्रामा, नाटक मंडली, कहानियां, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, परिचर्चा, वाद-विवाद, समूह परिचर्चा, लघु नाटिका, खेल आदि के द्वारा मानव अधिकारों की शिक्षा दी जाती है।

आनुभाविक शिक्षा— आनुभाविक शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से होता है जो व्यक्ति द्वारा प्रतिदिन के अनुभव द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार की शिक्षा में संचार साधनों, समाचार-पत्रों, सम्मेलनों तथा समाज की बहुत बड़ी भूमिका होती है। संचार सांधनों के माध्यम से मानवाधिकार हननू के मामलों को प्रचारित प्रसारित कर उनसे प्रभावित लोगों को उनके लिए उपलब्ध समाधानों की जानकारी प्रदान कराते हैं। समाचार-पत्रों व अन्य साधनों के माध्यम से सरकार द्वारा बनाए जाने वाले कानूनों की जानकारी प्रदान कराने, साथ ही सरकारी मशीनरी को उसके उत्तरदायित्वों का अहसास कराकर मानवाधिकारों के संरक्षण में भूमिका निभाई जाती है।

मानवाधिकार शिक्षा का निष्कर्ष व सुझाव

वस्तुतः मानवाधिकार शिक्षा का महत्वपूर्ण तत्व मानवीय मूल्यों की स्थापना करना, दूसरों के अधिकारों का सम्मान व आत्म गौरव की भावना का विकास करना होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा मानवाधिकार संस्कृति को बढ़ावा देने का प्रभावी साधन है। सभी औपचारिक शिक्षा स्तरों तथा अनौपचारिक समूहों में मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता, सूचना और जानकारी के प्रसार को बढ़ावा देने में वह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती है। इसके लिए आवश्यक नहीं है कि हम मानवाधिकार शिक्षा के रूप में किसी अलग विषय की शिक्षा दें। क्योंकि यह एक बहुआयात्मक तथा अन्तरसांस्कृतिक विषय है इसलिए मानवाधिकार शिक्षा के लिए अन्तर्विषयक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

मानवाधिकार शिक्षा के लिए इतना कुछ होते हुए भी मानवाधिकार शिक्षा की अपनी कुछ सीमाएं हैं। इनमें सबसे प्रमुख मानवाधिकार शिक्षा के क्या उद्देश्य होने चाहिए? मानवाधिकार शिक्षा की प्रविधि क्या हो? मानवाधिकार शिक्षा का पाठ्यक्रम क्या रखा जाए? शिक्षा प्रदान करने वाले को स्वयं मानवाधिकारों की संपूर्ण जानकारी नहीं होती है। इसी के साथ सबसे प्रमुख समस्या मानवाधिकार शिक्षा देने वाले अध्यापकों की कमी व उनमें अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति में रुचि न लेना है। मानवाधिकार शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए पाठ्यक्रम तो बनाए जाते हैं परन्तु शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएं इस क्षेत्र में अधिक रुचि नहीं लेतीं।

मानवाधिकार शिक्षा प्रदान करने वाली शिक्षण संस्थाओं को अधिक से अधिक प्रोत्साहन के लिए अलग से सम्मेलन, संगोष्ठियों तथा कार्यशाला आदि का आयोजन किया जाना चाहिए। जहां मानवाधिकार शिक्षा प्रदान करने वाले अध्यापकों की रुचि को परिवर्तित किए जाने पर विशेष बल दिया जा सके। मानवाधिकार शिक्षा को बढ़ावा देने के साथ ही सरकारी, गैर-सरकारी तथा स्वैच्छिक संगठन सभी को आपसी सहयोग के माध्यम से समाज को अधिकारों के प्रति अधिक सशक्त व जागरूक बनाने का प्रयास करना चाहिए। मानवाधिकार शिक्षा को बढ़ावा देने में जहां सरकार धन उपलब्ध कराकर गैर-सरकारी संगठनों को सहयोग प्रदान कर सकती है वहीं गैर-सरकारी संगठनों द्वारा बनाए गए कार्यक्रमों व नीतियों को क्रियान्वित करने में सरकार को सहयोग प्रदान कर सकते हैं। मानवाधिकार शिक्षा पाठ्यक्रमों के निर्धारण के समय जनसहभागिता को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए और पाठ्यक्रमों का निर्धारण समाज की आवश्यकताओं व स्थिति को ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। □□

राजनीति विज्ञान और लोक प्रशासन विभाग
महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर
राजस्थान

भारतीय शिक्षा में संश्लिष्ट दृष्टि – प्रासंगिकता के परिप्रेक्ष्य में

❐ एन. पी. सिंह
❐ ज्योति भाटिया

एक दार्शनिक के रूप में श्री अरविन्द ने दिव्य जीवन निमित्त संश्लिष्ट दृष्टि प्रस्तुत की। वर्तमान में लौकिक जगत को यथार्थ मानते हुए ईश्वर द्वारा निर्मित इस रचना में आसक्त भाव से परे अपने कर्तव्य के निर्वहन को आवश्यक माना। मानवता के कल्याण निमित्त प्राचीन मूल्यों का सम्मान रखते हुए आवश्यकताधारित शिक्षा के अनुवरण को आवश्यक बताया। आपकी दृष्टि में सच्ची शिक्षा सूचनाओं का संचय मात्र नहीं है, यह तो व्यक्ति में अन्तर्निहित दिव्य शक्तियों के विकास तथा सुखद जीवन-यापन हेतु आवश्यक क्षमताएं विकसित करने का अवसर प्रदान करती है। अधिगम-अध्यापन के प्रसंग में बालक की एज, एबिलटी तथा एप्टीट्यूड को दृष्टिपथ में रखना परमावश्यक माना गया है। इसी क्रम में शिक्षण प्रक्रिया में ज्ञानार्जन हेतु इन्द्रियों व मस्तिष्क के आवश्यक प्रशिक्षण पर बल देते हुए मानव-कल्याणार्थ दीर्घ जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। श्री अरविन्द देश-प्रेम के सन्दर्भ में राष्ट्रवादी, आवश्यकतानुरूपता के प्रसंग में प्रयोजनवादी, तार्किक व क्रमबद्धता के परिप्रेक्ष्य में विज्ञानवादी, बालकों के स्वाभाविक विकास को ध्यान में रखने के संदर्भ में मनोविज्ञानवादी, भारतीय संस्कृति के अनुरूप आदर्शवादी, मानव उत्थानार्थ मानवतावादी तथा भावी विकासोन्मुख जीवन के संदर्भ में भविष्यवादी के रूप में अधिष्ठित हैं।

शिक्षा प्रकाश का एक ऐसा स्रोत है जो अनादि काल से व्यक्ति के जीवन को सुखमय बनाने की दिशा में अग्रसर है। अपने दार्शनिक प्रयासों के अन्तर्गत अनेक चिन्तकों ने इस शैक्षिक बेल को पल्लवित व पुष्पित करने की दिशा में अनेकानेक प्रयास किए हैं। प्राचीनकालीन आप्तवाक्य "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया..... भूत, वर्तमान तथा भविष्य में भी शिक्षा के अभीष्ठ रहेंगे चाहे विज्ञान व तकनीकी के माध्यम से शिक्षा व शिक्षण के क्षेत्र में कितनी भी शैक्षिक प्रगति क्यों न हो जाए। मनुष्य के जीवन को सुखद, जीवन्त व प्रफुल्लित रखने की दिशा में चिन्तकों के योगदान की कमी नहीं है। जीव-ब्रह्म, लोक-परलोक, सत्य-असत्य, लौकिक-अलौकिक, भौतिक, यथार्थ इत्यादि के क्रम में ज्ञान का अथाह समुद्र सुलभ है। इसी क्रम में श्री अरविन्द ने जीवन की संश्लिष्ट दृष्टि के माध्यम से इसी लोक में रह कर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन करते हुए मोक्ष प्राप्त करने का न केवल अनुपम सन्देश दिया है वरन् बालक की शिक्षा के उपागमों पर स्वर्णिम प्रकाश भी बिखेरा है।

15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता में जन्मे भारतीय सस्कृति के प्रबल आलोचक के घर में पाश्चात्य परिवेश में प्रशिक्षित किन्तु भारतीय दर्शन के अनुरागी कुशाग्र बुद्धि सम्पन्न, भारतीय स्वतन्त्रता के प्रेमी और इस प्रकार अनूठी परिस्थितियों में पोषित श्री अरविन्द का दर्शन वेदान्त तथा गीता पर आधारित है। उनका स्वतंत्र दर्शन उपनिषदों की

ओर प्रत्यागमन है। उन्होंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्ट व अन्य सभी दृष्टिकोणों को स्वीकार करते हुए अपना एक विशिष्ट दर्शन प्रतिपादित किया है। व्यक्ति, जगत व यथार्थ के प्रति उनके विचारों ने सामाजिक, राजनैतिक तथा शैक्षिक दृष्टिकोण पर विशेष प्रभाव डाला है। उन्होंने जीवन में आध्यात्मिक साधना एवं योग को विशिष्ट महत्व दिया है। उनका समग्र दर्शन विकास सातत्य के सिद्धांतों पर आधारित है तथा इसका संबंध न केवल आदर्शों एवं मूल्यों से बल्कि व्यावहारिकता व यथार्थता से भी है। आदर्शवादी विचारक एवं शिक्षाशास्त्री श्री अरविन्द ने शिक्षा की दृष्टि से मानव अन्तःकरण को महत्वपूर्ण माना तथा इसी पर ध्यान केन्द्रित करते हुए विविध शैक्षिक विचारों का प्रतिपादन किया। श्री अरविन्द के दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों की प्रासंगिकता आज और भी उपादेय है। उनके शैक्षिक विचार मानव जाति में 'वसुधैव कुटुम्बकम्', राष्ट्रीयता, देशप्रेम, मानव कल्याण आदि भाव को जागृत करने व अभिप्रेरित करने में पूर्णतः समर्थ हैं। सम्प्रति उनके यत्र-तत्र फैले एतद् अमूल्य विचारों को शैक्षिक संदर्भ प्रस्तुत करना उद्दिष्ट रहा है। इस प्रयास के अन्तर्गत विषय-वस्तु विश्लेषण विधि के आधार पर प्राथमिक व द्वितीयक समंकों का प्रयोग किया गया है।

दार्शनिक सन्दर्श

समन्वय श्री अरविन्द के दर्शन का मूल मंत्र है। विभिन्न मतों व सम्प्रदायों का खण्डन करने की अपेक्षा उन्होंने दार्शनिक विचारों का मण्डन व समन्वयन किया, जो ज्ञान, भक्ति व कर्म के बीच निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत, भौतिकता व आध्यात्म, विज्ञान व धर्म में दृष्टव्य है।

महान चिन्तक श्री अरविन्द ने वैचारिक दृष्टि से आदर्शवाद, भौतिकवाद, आध्यात्मवाद, यथार्थवाद तथा प्रयोजनवाद का यथा-परिस्थिति कमोबेश आलिंगन किया है। उनकी दृष्टि में इस सृष्टि का अस्तित्व ही सत्य है। यह उच्चतर उत्थान का स्थल है जहां आध्यात्मिक उन्नयन का अवसर प्राप्त होता है। अन्य दार्शनिकों ने जहां भौतिक जगत से परे रहने का विचार प्रकट किया वहीं श्री अरविन्द ने इस प्रयास को कठिन व इसके निमित्त अधिकतम प्रयास न करने की प्ररिवृत्त की सलाह दी। यह जगत ईश्वर की ही रचना है। अतः ईश्वरीय रचना को त्यागना ठीक नहीं है। श्री अरविन्द ने एक यथार्थवादी के रूप में इस संसार में एक संकल्पित कर्मयोगी की तरह लगे रहने की सलाह दी, न कि इससे भागने की।

अरविन्द की दृष्टि में सत्य के साक्षात्कार व दर्शन की अपेक्षा अधिक आवश्यक है सत्य को स्थायी बनाना व उसे जीवन व दैनिक व्यवहार में उतारना। ईश्वर समस्त सृष्टि का कर्मा है। यह जगत एक लीला मात्र है। निर्माण तथा विध्वंस परम् सत्य द्वारा आनन्द के ही रूप हैं। श्री अरविन्द ने ज्ञान व अज्ञान को विरोधी नहीं, सीमा मात्र माना है। कष्ट, व्यथा व पीड़ा न अनादि है, न निरपेक्ष। यह तो अनुभव की सीमा मात्र है। क्रमिक विकास की प्रक्रिया में विश्वास रखने वाले श्री अरविन्द ने निरन्तरता को विशेष महत्व दिया व माना कि अंतिम चरण में चेतना का एक अति मानसिक स्तर आता है जिसे केवल अतिमानव ही प्राप्त कर सकता है। आपकी दृष्टि में पूर्ण योग जीवन को जीवन्त तथा दीर्घ बनाता है। समर्पित भाव से नियमानुकूल रीति से इसका आलम्बन ईश्वर का आभास देता है।

श्री अरविन्द ने पुनर्जन्म के दर्शन पर ध्यान आकृष्ट करते हुए आध्यात्मिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त किया। इनकी दृष्टि में मानव जीवन कोई आकस्मिक घटना नहीं है। जन्म व मृत्यु विकास योजना में पूर्वनिश्चित प्रक्रियाएं हैं। सूक्ष्मतः पुनर्जन्म चरम आवश्यकता है। श्री अरविन्द ने संकलित पूर्ण योग की क्रिया को, परमात्मा के स्वरूप को जानने तथा अन्तः आवेष्टन हेतु साधन मात्र माना है। पूर्ण योग का उद्देश्य आध्यत्मिकता का रूपान्तरण है जिसमें प्रेम, ज्ञान व संकल्प निहित हैं जो दिव्य जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

संश्लिष्ट व समन्वित दृष्टि श्री अरविन्द के दर्शन रूपी वृक्ष से पल्लवित व पुष्पित हुई है। दिव्य जीवन की ओर प्रवर्तन हेतु श्री अरविन्द के यत्र-तत्र विसरित विचारों को वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में देखना उद्दिष्ट रहा है।

दार्शनिक साम्यता

संश्लिष्ट दर्शन की प्रस्तुति श्री अरविन्द की प्रमुख विशेषता

रही है। श्री अरविन्द के दर्शन में उपनिषद व वेदान्त के तत्व प्रमुख स्थान रखते हैं। वर्तमान जगत को यथार्थ रूप में देखने वाले श्री अरविन्द वास्तविकतावादी होते हुए भी शिक्षा व्यवस्था में प्रकृतिवाद व आदर्शवाद का आलिंगन करते हैं। श्री अरविन्द आवश्यकतानुरूप शिक्षा में प्रयोजनवादी, सांस्कृतिक अनुरूपता में आदर्शवादी, विकासोन्मुख शिक्षा देने में भविष्यवादी, भारतीयता के गौरव को पुलकित करने के प्ररिप्रेक्ष्य में राष्ट्रवादी, चिन्तक के रूप में परिलक्षित होते हैं तथा शिक्षा व्यवस्था में स्वाभावानुरूप व्यवस्था के प्रसंग में मनोविज्ञानवाद का आवेष्टन किया है। इस प्रसंग में श्री अरविन्द के विचार टैगोर, विवेकानन्द, रूसो, महात्मा गांधी, राधाकृष्णन् तथा जाकिर हुसैन से स्पष्ट साम्य रखते हैं, जहां उन्होंने अपने प्रयास के अन्तर्गत धर्म, आध्यात्म, वैज्ञानिकता व तार्किकता का समन्वय करते हुए दिव्य जीवन की प्राप्ति निमित्त शैक्षिक संकल्पना की है।

शैक्षिक संदर्श

श्री अरविन्द जी के दार्शनिक बिन्दुओं को शैक्षिक परिदृश्य में देखने पर प्रकट होता है कि उन्होंने ऐसी शिक्षा पर बल दिया जो भारतीयता के अनुरागी सांस्कृतिक अनुभवों से संबद्ध बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दृष्टिगत कर विकासोन्मुख समाज को दिव्य जीवन की ओर अग्रसर कर सके। वास्तविक अर्थों में सुखद जीवन निमित्त आवश्यक क्षमताएं प्रदान करने व व्यक्ति में अन्तर्निहित शक्तियों के प्राकटन का नाम ही उनकी दृष्टि में शिक्षा है। यह व्यक्ति में जीवन व आत्मा को समझने की क्षमता विकसित करती है जो मानवता के कल्याणार्थ क्रियाशील होती है। यह मानसिक शक्तियों के निर्माण तथा आत्मोन्नयन की दिशा में एक उपकरण के रूप में प्रयुक्त होनी चाहिए। सूक्ष्मतः सच्ची शिक्षा वह है जो व्यक्ति के मस्तिष्क के साथ आत्मा, सार्वजनिक मन व देशज मन को भी प्रशिक्षित करे व प्रारंभ से आगे विभिन्न विकासात्मक अवस्थाओं में व्यक्ति को उसकी चेतना तथा वास्तविक सत्य का संज्ञान करवाए। बालक में निहित दिव्य शक्ति को विकसित करने की दिशा में स्वतंत्रता प्रदान करना शिक्षा के मंतव्यों में निहित है।

इसी क्रम में श्री अरविन्द ने शिक्षा में भारतीय आत्मा, आवश्यकता, स्वभाव व संस्कृति की अनुरूपता को आवश्यक मानते हुए समाज की शाश्वत आत्मा के प्रति आस्था को भी प्रधानता दी। श्री अरविन्द के विचारों में विभिन्न प्रकार की सूचनाओं को एकत्र कर लेना ही शिक्षा नहीं है। इसका मंतव्य तो मानव मस्तिष्क का प्रशिक्षण, सत्य का सृजन, भारत की विकासमान आत्मा तथा उसकी भावी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके अनुसार बालक को विकास मार्ग पर प्रवृत्त करना है।

श्री अरविन्द के अनुसार शिक्षा स्वाभाविक विकास के अनुरूप होनी चाहिए। उनकी दृष्टि में शिक्षा की बेल अन्तःकरण पर फैलती है जिसके कई स्तर हैं। कुछ में से विचार छन कर आते हैं, कुछ में शब्द, स्पर्श, रस व गंध आकर विचारों में प्रवृत्त होते हैं; कुछ में बुद्धि की व्यापक क्षमता तथा महत्ता का प्राकटन होता है तो कुछ में सत्य की अन्तर्दृष्टि पर ध्यान केन्द्रित होता है। मानव स्थित अन्तःकरण में छिपे सत्य को पहचानना व उभारना ताकि मानव मात्र की समस्याओं का अन्त हो सके, यही शिक्षा के प्रमुख मंतव्यों में आता है। यही वर्तमान संदर्भ में अभीष्ट है।

बालक में सुषुप्त क्षमताओं का विकास करना ही सच्ची शिक्षा है। इस प्रयास में शिक्षक की विशेष भूमिका वांछित है, जिससे बालक की रुचियों तथा स्वातन्त्र्य का हनन न हो।

शैक्षिक उद्देश्यों के प्रसंग में सद्पथ पर समाज को प्रवृत्त करना, सामंजस्यपूर्णता पर बल देना तथा बालक के सर्वांगीण विकास को दृष्टिपथ में रखना प्रमुख है। समाज में विचारों व प्रयोगों का बाहुल्य होता है परन्तु महत्व तो इस बात में है कि ये नवाचार किस सीमा तक विद्यार्थी के व्यवहार में संतुलन लाते हैं। श्री अरविन्द ने धार्मिक उन्नयन को एक उद्देश्य माना किन्तु उन तत्वों को ही अपनाने पर बल दिया जिनसे मानव मात्र का कल्याण हो। शारीरिक व आध्यात्मिक विकास श्री अरविन्द द्वारा संकल्पित शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य रहे हैं, जिनके आधार पर दिव्य जीवन की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसी प्रकार शिक्षक व अभिभावक का कार्य बालक को दिशा-निर्देश मात्र देना है ताकि वह अपना विकास कर सके। इसके अतिरिक्त

प्रमुख उद्देश्यों में बालक का नैतिक विकास, बौद्धिक विकास, सौन्दर्यात्मक विकास व व्यावहारिक पक्ष का विकास भी प्रमुख स्थान प्राप्ति योग्य है जिनसे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य में अनेक वृत्तियां होती हैं, जिनके सामंजस्यपूर्ण प्राकृतिक विकास पर बल दिया जाना वांछित है।

श्री अरविन्द ने शिक्षा के कार्यों को अधोलिखित आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में देखा–

- जीवन तथा आत्मा का वास्तविक अर्थ समझने में सहायता करना ही वास्तविक शिक्षा है।
- मन का ऐसा प्रशिक्षण हो कि जीवन के अर्थ को समझने में दिशा मिल सके।
- शैक्षिक प्रयास ऐसा हो जिससे मस्तिष्क शक्ति के विकास व व्यक्ति की आध्यात्मिकता के उन्नयन का मार्ग प्रशस्त हो।
- मन को प्रशिक्षित करने वाली वही शिक्षा सत्य है जो आत्मचेतना, सार्वभौमिक मन तथा राष्ट्रीय चेतना का विकास करे। विभिन्न सूचनाओं का संचय शिक्षा का कदापि नाम नहीं है।

पाठ्यक्रम शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के साधन होते हैं। इस दृष्टि से श्री अरविन्द ने विस्तृत तथा उपयोगितापरक पाठ्यक्रम का चयन करने पर बल दिया जो आज अति समीचीन है। विद्यार्थियों के अध्ययन योग्य विषयों में काव्य, संगीत, कला, संस्कृत व साहित्य को भरपूर स्थान प्रदान किया क्योंकि इनसे मस्तिष्क की सृजनशीलता व कल्पनाशक्ति में वृद्धि होती है। इस प्रकार पाठ्यक्रम में हस्तशिल्प स्थान प्राप्त करने योग्य है। मानसिक विकास की दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों को यथेष्ट स्थान दिया है क्योंकि उनसे अवलोकन, अन्वेषण, विश्लेषण व संश्लेषण की प्रवृत्ति विकसित होती है जो भावी जीवन के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त धर्म के मूल तत्वों के पाठ्यक्रम में स्थान प्रदान करने के पीछे मानव कल्याण की भावना निहित थी। श्री अरविन्द ने माना कि शरीर ही सारे धर्मों, कर्मों व मर्मों का माध्यम है। इसलिए शारीरिक शिक्षा को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया।

श्री अरविन्द ने अध्ययन-अध्यापन में रूसो, फ्रोबेल व टैगोर की तरह मनोवैज्ञानिक आधार पर बच्चों की रुचियों को समझने और उसके उपरान्त अनुकूल शिक्षण विधि अपनाने पर बल दिया ताकि रुचियों को ध्यान में रखा जा सके। इसके साथ अवलोकन, निरीक्षण, प्रदर्शन इत्यादि को पूर्ण अवसर प्रदान करने के उपरान्त वर्णमाला का ज्ञान देने की बात कही। वस्तुनिष्ठ विधि की अपेक्षा व्यक्तिनिष्ठ विधियों का समर्थन करते हुए सूचना की तुलना में ज्ञान को अधिक प्रधानता प्रदान करने वाली विधि को अनुकरणीय माना। श्री अरविन्द के अनुसार माता-पिता तथा शिक्षकों को बच्चों के लिए अनुकरणीय दृष्टान्त प्रस्तुत करने चाहिए। सूक्ष्मतः विधियां तो गौण व साधन मात्र हैं, साध्य तो दिव्य ज्ञान व दिव्य जीवन है। श्री अरविन्द की दृष्टि में विद्यालय का स्थान शांत, प्रेरक तथा जन-कोलाहल से दूर होना चाहिए, जहां आवश्यकता पड़ने पर मस्तिष्क को सक्रिय तथा साथ ही साथ यथा परिस्थिति निष्क्रिय बनाया जा सके। विद्यालय का कार्य बालक का भौतिक व आध्यात्मिक विकास करना है। इस निमित्त श्रेष्ठ साहित्य व विज्ञान की शिक्षा मनुष्य के कल्याण निमित्त प्रदान की जानी चाहिए।

श्री अरविन्द ने आत्म प्रशिक्षण व आत्मानुशासन को आवश्यक माना। इस दिशा में उन्होंने मानसिक व इन्द्रियों के प्रशिक्षण का व्यापक उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत 'क्रमशः बहुमुखीय अवधान' को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है।

शिक्षा के व्यावहारिक सन्दर्भ

श्री अरविन्द के शैक्षिक दर्शन में शारीरिक पक्ष के अंतर्गत इन्द्रियों तथा मानसिक प्रशिक्षण का व्यापक महत्व है। अनुभव ग्रहण करने की दिशा में कान, नाक, त्वचा, जीभ इत्यादि का सुनियोजित प्रशिक्षण व ध्यान आवश्यक है। समस्त ज्ञान के इन साधनों का सुकृति व विकृति के परिप्रेक्ष्य में ध्यान होना चाहिए। अभ्यास, प्रशिक्षण व पुनःप्रशिक्षण स्मृति व विस्मृति को दिशा प्रदान करते हैं। अतः ज्ञानेन्द्रियों का नियंत्रण व संयम अत्यावश्यक है जिससे चित्त शुद्ध तथा जीवन दिव्य होता है।

मानसिक प्रशिक्षण के अन्तर्गत ध्यान व केन्द्रण का महत्व है। प्रारंभ में एक समय में एक वस्तु पर ध्यान तथा धीरे-धीरे बहुमुखी उत्थान के अन्तर्गत एक समय में अनेक

बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास आवश्यक है। इस प्रयास में शिक्षक व छात्र संश्लिष्ट दृष्टि पर आधारित एक ऐसा वैचारिक धरातल प्रस्तुत किया जिसमें यथार्थवाद, भविष्यवाद तथा आदर्शवाद का अनूठा प्रस्फुटन है। विज्ञान व आध्यात्म को समन्वित करता हुआ यह विचारक्रम बालकों को स्वास्थ्य के प्रति सजग रखते हुए उनके सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। सम्प्रति आज की परिस्थितियां कल की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न हैं। जहां भाग-दौड़, अस्वस्थ प्रतियोगिता, दिखावा, कुव्यसन, मूल्यहीनता, स्वेच्छाचारिता व समस्त के आगे मौद्रिक एषणा व्याप्त है, रहन-सहन व अपेक्षाओं की शैली में व्यापक परिवर्तन है। ऐसे में बालकों को प्रारम्भ से प्रशिक्षित करने की दिशा में इन्द्रियों व मानसिक विधाओं का विकास उचित प्रतीत होता है। श्री अरविन्द ने बहु-आयामी अवधान के माध्यम से विद्यार्थियों के लिए अधिकाधिक उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त किया।

श्री अरविन्द ने सुखमय जीवन-यापन हेतु आवश्यकता आधारित शिक्षा अपनाए जाने पर बल दिया जो आज भी ग्राह्य है। शिक्षा व्यवस्था में बालकों के विकास निमित्त 3 'ए' फार्मूला– ऐज, एबिलटी, एप्टीट्यूड को प्रमुख स्थान प्रदान किया तथा आशा, निराशा, अपेक्षा व असन्तोष के मध्य योग के व्यापक अनुशीलन को मानसिक शान्ति व दीर्घ जीवन हेतु मूल मन्त्र माना।

वर्तमान में भौतिकवाद की सर्वस्व व्याप्ति के दुष्परिणामों के बीच आध्यात्मिकता का वरण व्यक्ति व मानवता के कल्याणार्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। उच्च शिक्षण संस्थाओं में मानसिक प्रशिक्षण, योग साधना के केन्द्रों की संख्या में वृद्धि अरविन्द दर्शन की वर्तमान उपादेयता को प्रकट करती है।

संक्षिप्ततः श्री अरविन्द ने अपने संश्लिष्ट दर्शन के माध्यम से दिव्य जीवन की प्राप्ति निमित्त व्यापक यथार्थवादी आध्यात्मिक धरातल प्रस्तुत किया। जिसमें व्यक्ति को इस जगत में अपने कर्तव्यों के प्रति आसक्ति भाव से परे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। ❑❑

उन्नत शिक्षा अध्ययन संस्थान
एम.जे.पी. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली
उत्तर प्रदेश

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था–अपेक्षित परिवर्तन

❑ सन्तोष मित्तल

आज शिक्षक को द्रोणाचार्य का नहीं अपितु गुरु वशिष्ठ, विश्वामित्र, समर्थ रामदास, दादा कोणदेव, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विरजानन्द का आदर्श सन्मुख रखना होगा। यही शिक्षक का जीवन दर्शन है, जिसे अपने आचरण से प्रमाणित करना होगा, वाणी से सार्थक करना होगा, कर्म से प्रगट करना होगा और ज्ञान से प्रकाशित करना होगा। इस प्रकार मूल्यों की शिक्षा देनी होगी क्योंकि मूल्य वे कसौटियां हैं जिनके आधार पर अच्छे-बुरे, सही-गलत, करणीय और अकरणीय का निर्णय करने की क्षमता छात्रों में उत्पन्न होती है।

शिक्षा के उद्देश्य समय व परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहे हैं और तदनुसार ही शिक्षा व्यवस्था में भी परिवर्तन होता रहा है। जिसका परिणाम हम वैदिक कालीन शिक्षा से लेकर आज तक होने वाले परिवर्तनों के रूप में देख रहे हैं। किन्तु अत्याधुनिक साइबर युग में आज परिष्कृत शिक्षा व्यवस्था कैसी हो? प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में क्या परिवर्तन अपेक्षित हैं? ये विचारणीय बिन्दु हैं।

आज ग्लोबल कक्षाओं का युग है जो साइबर विद्यालयों में चलती हैं। उन विद्यालयों के नाम माइक्रोसॉफट एप्लीकेशन + + +, इंटेल या इसी से मिलते जुलते हैं। जहां विद्यार्थी अपने घर के किसी कोने में बैठे हुए स्वयं विश्व के किसी कोने के अपने सहपाठी के साथ कक्षा में पढ़ रहे हैं। साइबर विद्यालय विद्यार्थी जीवन का नया आयाम है, क्योंकि विद्यार्थी कहीं भी किसी भी कोने में आज ऑक्सफोर्ड और ट्रिनिटी कॉलेज के छात्रों के साथ अपने अनुभव बांट सकते हैं। अब इंटरनेट ने इस देशव्यापी नेटवर्क को विश्वस्तरीय बनाकर इसकी सीमाओं को भूमण्डलीय आकार दे दिया है। इससे कक्षा-कक्ष आधारित शिक्षा का वातावरण धीरे-धीरे वेब व सी. डी. आधारित, स्वचालित गति से सीखने की प्रकिया में बदल गया है। यहां तक कि नेशनल इलेक्ट्रॉनिक कॉर्पोरेशन के टोक्यो स्थित डिज़ाइन केन्द्र के विशेषज्ञ इंजीनियरों द्वारा पहनने वाला कम्प्यूटर लगभग बनकर तैयार है। जिसने वियरेबिल डाटा टर्मिनल, लैपबॉडी कम्प्यूटर, टी. एल. सी., पी. सी., प्रोटो ऑफिस और स्कून पी. सी. हैं। जिन्हें कुछ को टाई की जगह, कुछ को बैल्ट की जगह पहना जा सकेगा और कुछ कंधों पर नजर आएंगे जो हमारी कार्यक्षमता बढ़ाएंगे साथ ही छात्रों की सूचनाएं प्राप्त करने की योग्यता को कई गुना बढ़ा देंगे। इस वैश्वीकरण के युग में जहां पूरा विश्व एक मुट्ठी में सिमटा नजर आ रहा है वहीं दूसरी तरफ न केवल हमारे देश में अपितु विश्व में आतंकवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि का ताण्डव नृत्य बढ़ता जा रहा है, क्योंकि हम भौतिक दृष्टि से अति साधन सम्पन्न होते जा रहे हैं, सूचनाओं का एकत्रीकरण हमारे लिए अति सुगम हो गया है, हम स्वयं को ज्ञान का पुंज मानकर गर्व करने लगे हैं, किन्तु वास्तव में हम मानसिक दृष्टि से पिछड़ते जा रहे हैं। आज शिक्षा अपने उद्देश्य प्राप्ति के मार्ग से भटकती दिखाई दे रही है। आत्मानुशासन ही शिक्षा का चरमोत्कृष्ट लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति हेतु महर्षियों ने स्वाध्याय और प्रवचन की अनिवार्यता पर बल देते हुए गुरु के सानिध्य के महत्व

को प्रतिपादित किया है–

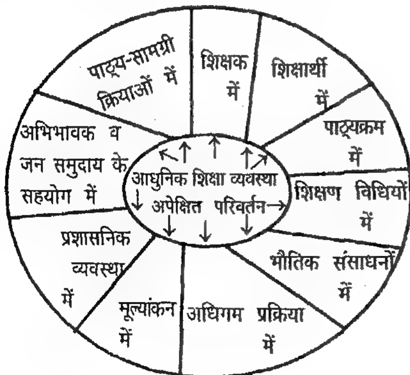
गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः, गुरूर्देवोमहेश्वरः।
गुरूः साक्षात्परब्रह्मः तस्मै श्री गुरूवे नमः।। (तन्त्रागम)

सूचनाओं की प्राप्ति के अति सुगम साधनों की उपलब्धि के बाद भी छात्र को आदर्श पथ प्रदर्शक के रूप में शिक्षक की आवश्यकता हमेशा रहेगी। सूचनाओं का संग्रह करना हो या प्राप्त ज्ञान का उपयोग करना हो, सभी कार्यों के लिए शिक्षक ही श्रेष्ठ पथ प्रदर्शक हो सकता है। रघुवीरशरण मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियां शिक्षक का स्वरूप 'भू के भगवान' के रूप में प्रतिपादित कर रही हैं–

ऐसे सत्य सिखाना जग को, अनाचार मिट जाएं।
मिटे स्वर्ग की असत् कल्पना,शाश्वत सत्य भूमि पर आएं।।
तुम भू के भगवान, तुम्हारे चरणों में ईश्वर मिलते हैं।
तुम अन्तर के माली, तुमसे फूल जिन्दगी के खिलते हैं।।
मैं भूलूंगा पर तुम मुझसे, भूलों पर उदास न होना।
तुम शिक्षक विद्वान तुम्हारी, प्रतिभा से लोहा भी सोना।।

अतः स्पष्ट है कि शिक्षक का शिक्षा जगत में विशिष्ट स्थान है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा केवल व्यक्ति सापेक्ष या वस्तु सापेक्ष बन गई है जो हमें केवल बाह्य जगत की सूचनाएं दे रही है उसमें उन अन्तर प्रेरणाओं का अभाव है, जो मनुष्य की अन्तर्दृष्टि को खोल सके। एतदर्थ शिक्षा से जुड़े सभी बिन्दुओं में परिवर्तन अपेक्षित है जिसे निम्न रेखाचित्र से समझा जा सकता है–



कथित बिन्दुओं में परिवर्तन हेतु शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन करना होगा और उनके अनुरूप ही शिक्षा देनी होगी। अतः आधुनिक शिक्षा व्यवस्था हेतु कतिपय अनुकरणीय बिन्दु निम्न हैं–

संस्कारक्षम शिक्षा–आज शिक्षा का विस्तार हुआ है, यदि यह कहा जाए कि उसमें विस्फोट हुआ है, तो शायद अतिशयोक्ति न होगी। जब ऊर्जा का निर्माण अनियमित होता है तब उसे विस्फोट कहा जाता है। आज शिक्षा भी अनियमित विस्तारित हुई है। जैसा कि पूर्व में भी उल्लेख किया गया कि सूचनाओं के संग्रह में अतितीव्र गति से हमने विकास किया है। आज का विद्यार्थी आज से तीस साल पहले की स्थिति की तुलना में बहुत सारी सूचनाएं रखता है, किन्तु आज भी अनुशासनहीनता, तनाव, कुण्ठा, निराशा, श्रम के प्रति अनास्था इत्यादि उसमें पर्याप्त मात्रा में दिखाई दे रहे हैं। एतदर्थ संस्कारक्षम शिक्षा की आवश्यकता है ताकि तैतिरियोपनिषद् के निम्नलिखित भाव को साकार किया जा सके– 'युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः आशिष्टो बलिष्ठो दृढ़िष्ठा'

अर्थात् हमारे युवक सज्जन, अध्ययनशील, शिष्ट, दृढ़ और बलवान बनें।

एतदर्थ आजकल की परिस्थिति में अध्यापक में विद्वता, नीतिमत्ता और शासनक्षमता (अर्थात् अनुशासन बनाए रखने की क्षमता) होना उसकी सफलता के लिए बहुत आवश्यक है कहा भी गया है–

विद्वता नीतिमत्ता च शासन क्षमता तथा।
विद्या गुरूणामेते वै त्रिगुणाः संप्रकीर्तिताः।।

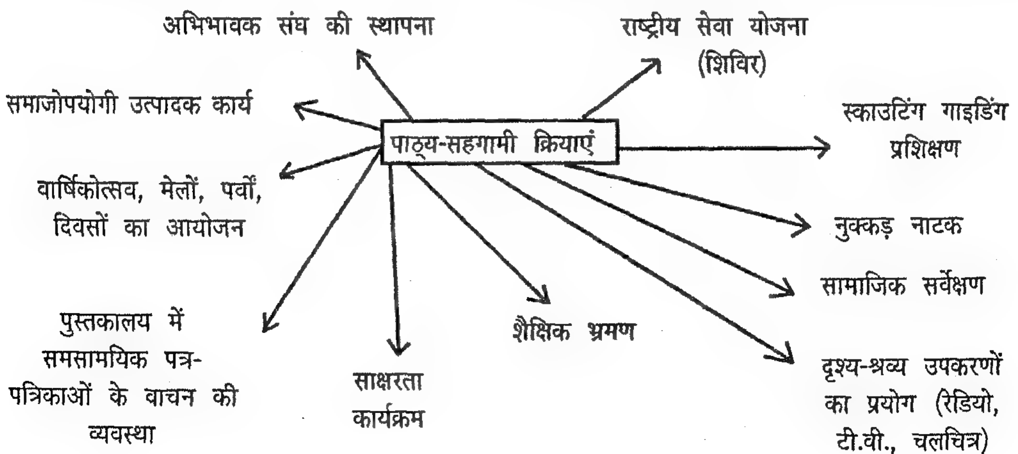
डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के शब्दों में– "शिक्षा सूचना प्रदान व कौशलों का प्रशिक्षण देने तक सीमित नहीं है इसे शिक्षित व्यक्ति को मूल्यों का विचार भी प्रदान करना है, जिसके संदर्भ में वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को सहज भाव से वहन कर सके।"

आज शिक्षक को द्रोणाचार्य का नहीं अपितु गुरु वशिष्ठ, विश्वामित्र, समर्थ रामदास, दादा कोणदेव, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विरजानन्द का आदर्श सन्मुख रखना होगा। यही शिक्षक का जीवन दर्शन है। जिसे

अपने आचरण से प्रमाणित करना होगा, वाणी से सार्थक करना होगा, कर्म से प्रगट करना होगा और ज्ञान से प्रकाशित करना होगा। इस प्रकार मूल्यों की शिक्षा देनी होगी, क्योंकि मूल्य वे कसौटियां हैं जिनके आधार पर अच्छे-बुरे, सही-गलत, करणीय और अकरणीय का निर्णय करने की क्षमता छात्रों में उत्पन्न होती है।

संवेदनोन्मुखी शिक्षा—हमारे प्रायः सभी धर्मग्रन्थों की शिक्षा की जड़ में संवेदनशीलता प्रमुख है। करुणा का समस्त भारतीय धर्मों में विशेष स्थान है। दूसरों के प्रति आदर, स्नेह, सौहार्द्र, कोमलता आदि की चेतना ही संवेदनशीलता की पहचान मानी जानी चाहिए। भारत में गांधीजी, टैगोर, विवेकानन्द ने इस पक्ष पर विशेष बल देते हुए ही अपनी विचारधाराएं प्रसारित की थीं। बुनियादी शिक्षा की पाठशाला को समाज में अहिंसात्मक क्रान्ति के भाले की नोंक बनाने का सार्थक विचार गांधीजी का था। आज नेता, शिक्षक, विचारक, अभिभावक, प्रशासक सभी एक स्वर में कहते हैं कि छात्रों में सामाजिक संवेदनशीलता का विकास करना अत्यावश्यक है ताकि वे दूसरों के कष्टों, भावनाओं व विचारों के प्रति भी संवेदनशील बनें तथा उनका आदर करें। एतदर्थ शिक्षा के उद्देश्यों में सामाजिक संवेदनशीलता का विकास सर्वोपरि रखा जाए। आज हमारा पाठ्यक्रम मात्र सूचना लेने और देने के आधार पर बनाया गया है। नवीनतम जानकारी अधिकाधिक सूचनाओं से ऊंचे स्तर का ज्ञान ही हमारी शैक्षिक व्यवस्था का आधार है। आज हमारा पाठ्यक्रम केवल सूचनात्मक है रचनात्मक नहीं, इसलिए हम सब कुछ चाहकर भी कुछ नहीं कर सकते। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने एक स्थान पर कहा है, कि "जहां व्यक्ति निज प्रकृति की कोई चिन्ता न करके केवल समष्टिगत एवं परार्थभाव से कार्य करने को प्रवृत्त होता है, वहीं से संस्कृति प्रारम्भ होती है....... संस्कृति मानव के कर्तव्यों का कारण एवं परिणाम दोनों है। इस तरह शुद्ध सात्विक समान दृष्टि निश्चय ही संस्कृति का अधिष्ठान बनती है। इस समान दृष्टि में एक निरन्तरता होती है क्योंकि यह एक समाजव्यापी भाव या व्यापक अर्थों में कहें तो यह किसी समाज के सांस्कृतिक मूल्य की संचेतना बन जाती है। व्यक्तियों के घटने बढ़ने से उसमें कोई अन्तर नहीं आता, यह सांस्कृतिक परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। जब सामाजिक संवेदनशीलता ह्रासोन्मुखी होती है तब व्यक्ति का निजी स्वार्थ प्रबल होता है समाज भावना शून्य व मानव अपने अतिरिक्त फिर अन्य को पराया मानने लगता है। यहीं से पतन प्रारम्भ होता है। हमें परिष्कृत शिक्षा व्यवस्था में सामाजिक संवेदनशीलता को प्रबल करना होगा। एतदर्थ निम्नलिखित पाठ्य-सहगामी क्रियाएं विद्यालयों/महाविद्यालयों में आयोजित की जा सकती है—

व्यवसायोन्मुखी शिक्षा—वर्तमान शैक्षिक परिवेश में वही छात्र श्रेष्ठ समझा जाता है जो अपने मस्तिष्क में सूचनाओं का अधिकाधिक एकत्रीकरण कर सके, वही शिक्षक कुशल है जो बेदर्दी से निरर्थक, नीरस, अव्यावहारिक सूचनाएं अपने



छात्रों के दिमाग में ठूंस सके। यह कैसी विडम्बना है। ज्ञान प्राप्ति का यह कैसा विकट स्वरूप बन गया है। शिक्षा का उद्देश्य तो बालक के तन, मन व आत्मा में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका पूर्ण प्रस्फुटन होना है। स्वावलम्बन शिक्षा की सही कसौटी है। बालक ऐसे कौशलों में दक्ष हो जिससे उसका जीवन मंगलमय हो। एक प्रसिद्ध उक्ति है 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' अर्थात् भूखा क्या पाप नहीं करता। भूख के निवारणार्थ छात्रों को व्यावहारिक व व्यवसायोन्मुखी शिक्षा प्रारम्भिक स्तर से ही दी जाए। वैसे देश के आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास में उच्च शिक्षा की अहम् भूमिका रहती है। उच्चकोटि के साहित्यकार, दार्शनिक समाजशास्त्री, वैज्ञानिक और तकनीशियन महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों के प्रांगण से ही निकलते हैं किन्तु देश में अधिकांश विश्वविद्यालय परिसर आज राजनीति के अखाड़े और भ्रष्टाचार के अड्डों के साथ-साथ माफियाओं के लिए संरक्षण गृह के रूप में अपनी पहचान बनाते जा रहे हैं। आज विश्वविद्यालय के घिसे-पिटे, पुराने पाठ्यक्रम, दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली, शिक्षा का निम्न स्तर, राजनीति से प्रेरित शिक्षक और शिक्षार्थी, अव्यावहारिक शोध कार्य ने शिक्षा को पंगु बना दिया है। जरूरत इस बात की है कि तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या और शिक्षा के प्रति बढ़ती जागरूकता के परिणामस्वरूप अनियन्त्रित भीड़ को समाहित करने हेतु व्यावहारिक पाठ्यक्रम बनाए जाएं और उनको सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जाए। उच्च स्तर पर व्यावसायिक और तकनीकी पाठ्यक्रमों को ही महाविद्यालय व विश्वविद्यालयों में संचालित किया जाए। इनमें वर्तमान में चलने वाले बी.ए., एम. ए., बी. कॉम, एम. कॉम जैसे पाठ्यक्रमों को यहां नियमित रूप से संचालित न कर केवल पत्राचार, दूरस्थ अथवा मुक्त शिक्षा प्रणाली के माध्यम से ही संचालित करने का प्रावधान किया जाए। इन पाठ्यक्रमों को रोचक तथा बोधगम्य बनाने हेतु इनमें अत्याधुनिक इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के साधनों का प्रयोग करने हेतु व्यवस्था की जाए। इस प्रकार विशुद्ध सैद्धान्तिक और शैक्षणिक पाठ्यक्रमों पर होने वाला भारी भरकम खर्च कम हो जाएगा तथा इन पाठ्यक्रमों में प्रयुक्त होने वाले भवनों, शिक्षकों तथा संसाधनों आदि को व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी विभिन्न व्यावसायिक, तकनीकी और विशिष्टतापूर्ण पाठ्यक्रमों के लिए प्रयोग में लाना सम्भव हो सकेगा। छात्रों में नया चिन्तन, नई गति, नई समझ पैदा करनी होगी। भारतीय दर्शन में कहा गया है 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या (शिक्षा) वही है जिससे भौतिक, दैहिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि समस्याओं से मुक्ति प्राप्त हो। इस दृष्टि से भी आध्यात्मिक शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की तोते की कहानी आज की शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट रूप से चित्रित कर रही है। जिसके प्रथम चित्र में राजा सोने के पिंजरे में शिक्षा के लिए तोते को बन्द देखकर खुश है और पिंजरे के नीचे चाटुकार नौकरशाह व शिक्षक अपना अंश पाकर आनन्दित हैं। दूसरे चित्र में पंडित बना शिक्षक तोते की गर्दन पकड़कर उसकी चोंच में किताबों के पन्ने ठूंस रहा है। तोता फड़फड़ा रहा है। शिक्षक के पास पोथियों का ढ़ेर लगा है। फड़फड़ाते तोते के पंख एक-एक करके टूटते जा रहे हैं। उसकी उड़ने की क्षमता में निरन्तर कमी आ रही है। तीसरे चित्र में तोते को थाल में सजाकर राजा के सामने प्रस्तुत किया गया है। वह उड़ना भूलकर मृतप्राय-सा थाली में पड़ा है उसके पेट से लेकर कंठ और चोंच तक किताओं के सूखे पन्ने भरे पड़े हैं। शिक्षक व शिक्षा अधिकारी कहते हैं– इसकी शिक्षा पूर्ण हो गई है। यही है हमारी आज की शिक्षा का स्वरूप जहां विद्यार्थी को पराधीन व अकर्मण्य बनाया जा रहा है।

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में शिक्षा का वास्तविक अर्थ है–"व्यक्ति में कर्म की आकांक्षा तथा उसको कुशलतापूर्वक करने की पात्रता उत्पन्न करना।"

आज हमें उन विषयों की शिक्षा बालकों को देनी चाहिए जो उन्हें जीने की कला सिखाए। नए सृजन की ओर प्रेरित करे। कला से आपूरित दृष्टि बनाए। शिक्षा सर्वाधिक व विधायी हो। वह धरती के शृंगार का आधार बने।

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो के शब्दों में –"अपने छात्र को मौखिक पाठ मत पढ़ाओ अपितु उसे अनुभव से सीखने दो। जहां तक सम्भव हो, क्रिया द्वारा शिक्षण हो, शब्दों का सहारा तब ही लें जब कार्य द्वारा पढ़ाना सम्भव नहीं हो।"

□□

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
जयपुर परिसर, जयपुर, राजस्थान

मानवाधिकार शिक्षा – क्यों और कैसे

❐ प्रेम छाबड़ा
❐ प्रेमलता पारेख

मानवाधिकार शिक्षा की आवश्यकता समाज में किसी एक विशेष वर्ग या विशेष आयु-वर्ग हेतु नहीं है, अपितु सभी स्तरों पर मानवाधिकार शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक को मानवाधिकार के प्रति जागरूक बनाया जा सके। मानवाधिकारों की जानकारी व संरक्षण के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा ही वह माध्यम है जो मानवाधिकारों की जानकारी सर्वसाधारण तक पहुंचाकर उन्हें इसके प्रति जागरूक कर सकती है, साथ ही लोगों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाकर मानवाधिकारों के सम्मान के प्रति, उनमें गहरी आस्था तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता जगा सकती है।

आज के बदलते परिवेश में मानवाधिकारों की गूंज जगह-जगह सुनाई पड़ती है। लेकिन मानवाधिकार कोई नई अवधारणा नहीं है। इसकी जड़ें अतीत की गहराइयों में छिपी हुई हैं। इसका क्षेत्र नगर, राज्यों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक व्यापक रहा है। मानवाधिकार की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर से मिलती है। लेकिन इन्हीं मानवाधिकारों का संरक्षण आज विश्व के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती है। संपूर्ण मानव जाति शोषण, अत्याचार, उत्पीड़न व आंतकवाद से पीड़ित है। मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए मेग्ना-कार्टा, बिल ऑफ राइट्स तथा मानवाधिकार घोषणा-पत्र जारी हुए, लेकिन जन साधारण के लिए मानवाधिकार आज भी मृग-तृष्णा बने हुए हैं। सामान्य जन अज्ञानतावश मानवाधिकार से अपरिचित-सा है। जिससे मानवाधिकार का उल्लंघन प्रत्येक दिन प्रत्येक क्षण हो रहा है। यदि ऐसी स्थिति में हम संयुक्त राष्ट्र द्वारा घोषित मानवाधिकारों की ऐसी स्थिति की चर्चा करें तो अत्यन्त भयानक तस्वीर हमारे सामने आती है। कदाचित भारत में मानवाधिकार की यह तस्वीर कम भयानक नहीं है। गृहयुद्ध में झुलस रहे देशों– यूगोस्वालिया, रुआण्डा, अफगानिस्तान, सोमालिया, सूडान आदि में तो मानवाधिकार के उल्लंघन की बात समझ में आती है, परन्तु भारत जो दुनिया का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है और जहां लोकतंत्र पूर्ण सुस्थापित है, ऐसे देश में मानवाधिकारों की चर्चा करें तो चौंकाने वाले आंकड़े हमारे सामने आते हैं। दुनिया के सौ करोड़ भुखमरी से त्रस्त लोगों में से लगभग आधे लोग पांच देशों भारत, बांगलादेश, पाकिस्तान, नाइजीरिया और इण्डोनेशिया में रहते हैं। एक अनुमान के अनुसार यदि केवल भारत में भुखमरी दूर हो जाए तो संसार से एक तिहाई भुखमरी खत्म हो जाएगी और ऐसा केवल सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार करके किया जा सकता है, क्योंकि हमारे देश में खाद्यान्न का पर्याप्त भंडार उपलब्ध है।

विश्व बैंक की विश्व विकास सूचक रिपोर्ट के अनुसार भारत में सबसे अधिक गरीब लोग रहते हैं, विश्व में 1.3 अरब लोगों में से लगभग 36 प्रतिशत केवल भारत में ही रहते हैं। सरकार भी अपने आंकड़ों में इनकी संख्या 26 करोड़ से अधिक स्वीकार करती है। लगभग 40 करोड़

निरक्षर लोगों के देश में जिसकी लगभग आधी महिलाएं निरक्षर हैं। जहां के अखबार जातीय और पुलिसिया अत्याचार की खबरों से हर रोज भरे रहते हैं, उस देश में मानवाधिकारों की स्थिति का अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं। नारीवादी आंदोलनों, विकास आंदोलनों, पर्यावरण संरक्षण, अल्पसंख्यकों व आदिवासियों तथा उनकी संस्कृति के संरक्षण के लिए चलाए जा रहे आंदोलनों— बालश्रम और हर तरह के शोषण के विरुद्ध चलने वाले आंदोलनों— ने मानवाधिकारों की अवधारणा के प्रति भी लोगों को जागरूक किया है। ऐसे में सहज ही हमारे मन में प्रश्न उठता है कि मानवाधिकार क्या हैं?

मानवाधिकार

मानवाधिकार ऐसे आधारभूत अधिकार हैं जो स्वतंत्र जीवन-यापन के लिए अपरिहार्य हैं। ये अधिकार व्यक्ति के पूर्ण बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इनके अभाव में व्यक्ति का बहुमुखी विकास संभव नहीं है। वस्तुतः मानवाधिकार का सम्बन्ध मात्र मानवीय पक्ष की संवेदना, सहयोग व वैचारिक आदान-प्रदान तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि यह भी सभ्य व सुसंस्कृत समाज का व्याकरण होता है, जिसके मूल में मानव गरिमा, न्याय, निष्पक्षता तथा शोषण रहित सामाजिक न्याय निहित रहता है। मानवाधिकरों के अंतर्गत वे सभी अधिकार सम्मिलित किए जा सकते हैं जो व्यक्ति को उसमें निहित मूल प्रवृत्तियों के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि यह कहें कि इनका संबंध मानवीयता से है तो गलत नहीं होगा। मानव के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए ही मानवाधिकारों की कल्पना की गई है जिसके प्रति 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत सहित दुनिया के 137 राष्ट्रों ने अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की है। संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार के अन्तर्राष्ट्रीय विधेयक के अंतर्गत समानता, शिक्षा, धर्म सामाजिक सुरक्षा, मानवीय व्यवहार, न्याय, आत्मनिर्णय का अधिकार, विकास का अधिकार उपेक्षित वर्गों के लोगों के विशेष संरक्षण, पर्यावरण संरक्षण, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति के अधिकार सम्मिलित हैं। 1989 में इनमें बच्चों के अधिकारों व 1993 में वियना और 1995 में पेइचिंग में हुए सम्मेलनों के बाद महिलाओं के अधिकारों को भी सम्मिलित किया गया है। इनके द्वारा बच्चों का उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं, पोषण, स्वास्थ्य व शिक्षा तथा महिलाओं को राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक व आर्थिक गतिविधियों में समान रूप से भाग लेने के अधिकार प्रदान किए गए हैं।

मानवाधिकार शिक्षा— क्यों

मानवाधिकारों पर जारी होने वाली रिपोर्ट इस तथ्य की पुष्टि करती है कि संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर के लागू होने के 54 वर्ष बाद भी दुनिया के सभी देशों में कम या अधिक मानवाधिकारों का उल्लंघन जारी है, लेकिन मानवाधिकारों के उल्लंघन को रोकने में शिक्षा एक प्रभावी भूमिका निभा सकती है। वास्तव में शिक्षा ही वह माध्यम है जो मानवाधिकारों की जानकारी सर्वसाधारण तक पहुंचाकर उन्हें इसके प्रति जागरूक कर सकती है। साथ ही लागों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाकर मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता जगा सकती है, इसलिए शिक्षा मानवाधिकारों की जागरूकता का सशक्त साधन या माध्यम है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर हम मानवाधिकारों की शिक्षा देने के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित कर सकते हैं।

- ☐ समाज के लोगों में मानवाधिकारों का ज्ञान प्रदान कर उनमें जागरूकता उत्पन्न करना ताकि वे अन्य लोगों की मौलिक स्वतंत्रताओं का आदर करना सीखें।
- ☐ व्यक्ति को मानवाधिकारों के संरक्षण और संवर्द्धन की शिक्षा देना।
- ☐ संसार के विभिन्न जातीय, राष्ट्रीय, भाषायी, धार्मिक और सांस्कृतिक समूहों के बीच एकात्मकता की भावना का विकास करना।
- ☐ शान्ति व अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को सशक्त करने के लिए सार्थक प्रयास करना।
- ☐ संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति व मानवीय विकास संबंधी प्रयासों की जानकारी देकर इन प्रयासों को बढ़ावा देना।

- ☐ एक स्वतंत्र समाज में मनुष्य को उसकी कारगर भूमिका के लिए तैयार करना।
- ☐ गरिमापूर्ण, निष्पक्ष शोषणरहित मानवीय समाज की स्थापना के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सचेष्ट प्रयास करना।
- ☐ समाज के पिछड़े व कमजोर वर्गों में जागरूकता उत्पन्न करना ताकि उनमें आत्मविश्वास पैदा हो और वे अपने अधिकारों की सुरक्षा के प्रति सचेष्ट हों।
- ☐ समाज के व्यक्तियों को पूर्वाग्रहों को छोड़ने और दूसरों के प्रति दुर्भावनाओं को त्यागने के लिए तैयार करना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब बच्चों से लेकर समाज के हर वर्ग को मानवाधिकारों के प्रति जागरूक बनाया जाए और इसके लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मानवाधिकारों की शिक्षा कैसे दी जाए, इसकी आवश्यकता है। मानवाधिकारों की शिक्षा क्यों दी जाए, यह तो उपरोक्त उद्देश्यों से स्पष्ट हो जाता है। परन्तु मानवाधिकार की शिक्षा कैसे दी जाए? यह भी विचारणीय है।

मानवाधिकार शिक्षा– कैसे

मानवाधिकार शिक्षा की आवश्यकता समाज में किसी एक विशेष वर्ग या विशेष आयु-वर्ग हेतु नहीं है; अपितु सभी स्तरों पर मानवाधिकार शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे बच्चों से लेकर बुजुर्गों तक को मानवाधिकार के प्रति जागरूक बनाया जा सके। मानवाधिकारों की जानकारी व संरक्षण के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा ही वह माध्यम है जो मानवाधिकारों की जानकारी सर्वसाधारण तक पहुंचाकर उन्हें इसके प्रति जागरूक कर सकती है, साथ ही लोगों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाकर मानवाधिकारों के सम्मान के प्रति, उनमें गहरी आस्था तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता जगा सकती है। इस दृष्टि से शिक्षा मानवाधिकारों की जागरूकता का सशक्त साधन या माध्यम है। विभिन्न स्तरों पर सामाजिक विज्ञान की पुस्तकों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि सामाजिक अध्ययन के पाठ्यक्रम– कक्षा 6 से 9 तक– में मानवाधिकार से संबंधित अनेक तथ्यों का समावेश है। यदि शिक्षक मानवाधिकारों की शिक्षा के प्रति जागरूक रहें तो सामाजिक अध्ययन में नागरिकशास्त्र विषयों के शिक्षण के समय विद्यार्थियों को मानवाधिकार के ज्ञान के प्रति जागरूक बनाया जा सकता है जैसे कक्षा 6 व 7 की सामाजिक अध्ययन की पुस्तक का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें बच्चों के अधिकार दिए हैं। इस पाठ को पढ़ाते समय विद्यार्थियों के अधिकार क्या हैं इसके लिए जागरूक बनाया जा सकता है तथा इसका अपने दैनिक जीवन में किस प्रकार उपयोग करना चाहिए इससे भी विद्यार्थियों को अवगत कराया जाना चाहिए। इसी प्रकार 8, 9 व 10वीं के सामाजिक अध्ययन विषयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित मानवाधिकारों व उनमें उपयोग व कौन से अधिकार हैं इत्यादि के शिक्षण द्वारा इनकी जानकारी दी जानी चाहिए। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षण व प्रशिक्षण कार्यक्रम में मानवाधिकार शिक्षा को स्थान देकर भावी शिक्षकों में तथा बच्चों में मानवाधिकार के ज्ञान के प्रति जागरूकता विकसित की जा सकती है। साथ ही इससे उन्हें अवगत कराया जाए कि इस क्षेत्र में वे किस प्रकार अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। माध्यमिक स्तर से हाईस्कूल के पाठ्यक्रम में मानवाधिकार शिक्षा को अलग विषय के रूप में सम्मिलित किया जाना चाहिए और इसे एक अनिवार्य विषय के रूप में स्थान दिया जाना चाहिए तो इसमें अतिरिक्त औपचारिक व अनौपचारिक रूप में निम्न स्तरों पर मानवाधिकार शिक्षा दी जा सकती है।

प्राथमिक स्तर पर– इस स्तर पर विद्यार्थियों को उनके बाल ज्ञान के आधार पर इस विषय का ज्ञान बाल कहानियों और कविताओं के द्वारा कराया जाना चाहिए। जिससे यह विषय उनके लिए रोचक बन जाएगा।

माध्यमिक व उच्च माध्यमिक स्तर पर– इस स्तर पर विद्यार्थियों को अपने देश के संदर्भ में मानवाधिकारों और उसके संगठन के बारे में शिक्षा दी जानी चाहिए।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर– इस स्तर पर विद्यार्थियों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार, उसका संगठन तथा वर्तमान क्रियाकलापों का अध्ययन कराया जाना चाहिए।

स्नातक स्तर पर– इस स्तर पर आवश्यक है कि इसे आधार पाठ्यक्रम में शामिल किया जाए तथा मानवाधिकारों

संबंधी प्रश्नों को प्रश्न-पत्र में करना अनिवार्य कर दिया जाए।

स्नातकोत्तर स्तर पर– इस स्तर पर अन्य विषयों से मानवाधिकारों को अलग विषय के रूप में विस्तृत पढ़ाया जाए तथा अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में मानवाधिकार का अध्ययन कराया जाए।

शिक्षकों में मानवाधिकार के प्रति जागरूकता का विकास करने के उपाय

- मानवाधिकर संबंधित सेमिनार व गोष्ठियों का आयोजन किया जाना चाहिए।
- प्रत्येक विद्यालय में मानवाधिकारों से संबंधित पत्र-पत्रिकाओं को मंगाया जाना चाहिए।
- विद्यालयों व शासकीय, अशासकीय शिक्षा महाविद्यालयों में इन अध्यापकों के लिए मानवाधिकारों से संबंधित प्रशिक्षण का आयोजन किया जाना चाहिए।

समाजिक स्तर पर मानवाधिकार के प्रति जागरूकता विकसित करने के उपाय

- बाल श्रमिकों, मजदूरों तथा महिलाओं के प्रति उत्पीड़न को रोकने व उनमें जागरूकता विकसित करने के लिए विशेष अभियान चलाया जाना चाहिए।
- मानवाधिकारों संबंधी विशेष सभाओं का आयोजन पोस्टरों व बैनरों के साथ किया जाना चाहिए।
- ग्रामीण क्षेत्रों में मानवाधिकारों से संबंधित फिल्मों, नाटकों, नुक्कड़ नाटकों आदि का प्रदर्शन किया जाना चाहिए।
- जिन विभागों में सबसे अधिक मानवाधिकारों का उल्लंघन किया जाता है उस विभाग के अधिकारियों तथा कर्मचारियों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा मानवाधिकार संस्कृति में बढ़ावा देने का प्रभावी साधन है। सभी औपचारिक शिक्षा स्तरों तथा अनौपचारिक समूहों में मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता, सूचना और जानकारी के प्रसार को बढ़ावा देने में यह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती है। शिक्षा हमें अपने आसपास के परिवेश को नई दृष्टि के साथ समझने की शक्ति देती है। इससे मानवीय संवेदनाओं और आशाओं में जाति, धर्म, भाषा संस्कृति या राष्ट्रों के कारण कोई अंतर नहीं आता है। इसी एकता को समझकर ही हमारी कार्य संस्कृति बदल सकती है। संकीर्णता, कटुता का पराभाव हो सकता है और सहिष्णुता तथा दूसरे की भावनाओं और आत्माओं का सम्मान करने की भावना इसका स्थान ले सकती है। यही शिक्षा का उद्देश्य भी है। मानवाधिकारों की शिक्षा मानवीय मूल्यों, मानवीय गरिमा, निष्पक्ष, शोषण विहिन मानवीय विकास का साधन है, इस दृष्टि से यह मानवाधिकार राष्ट्र की संचेतना एवं सुरक्षा का प्रभावी एवं महत्वपूर्ण साधन भी है। □□

लोकमान्य तिलक शिक्षा महाविद्यालय
उज्जैन, मध्य प्रदेश

जनसंख्या शिक्षा की अवधारणा

☐ राकेश कुमार
☐ सुप्रिया सिन्हा

शिक्षा जीवन में परिवर्तन लाती है। वर्तमान पाठ्यक्रम में दिए गए मुद्दों से ही प्रसंगानुकूल कक्षा-कक्ष में जनसंख्या शिक्षा के संदेशों की चर्चा कर छात्रों में जागरूकता लाई जा सकती है। विद्यालयी कार्यक्रम में पाठ्यगामी और सहपाठ्यगामी क्रियाशीलनों के माध्यम से जनसंख्या शिक्षा का सकारात्मक रूप प्रदान किया जाएगा। शिक्षण प्रक्रिया में जाने पर जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न सभी समस्याओं से छात्र अवगत हो सकेंगे। स्वचिन्तन की प्रक्रिया और दिन-रात जनसंख्या वृद्धि की क्रूर लहरों के थपेड़ों से उत्पन्न ज्ञान के आधार पर वे अपने भावी जीवन में जब पारिवारिक दायित्व में प्रवेश करेंगे तो छोटे आकार के परिवार की अवधारणा को क्रियान्वित करेंगे।

आज हमारे देश की आबादी एक अरब की सीमा से द्रुतगति से आगे बढ़ रही है। हमारा देश एक गरीब देश है। अशिक्षा और गरीबी हमारे जन जीवन के लिए अभिशाप बन गए हैं। हमारी जनसंख्या विशाल है। गरीबी, पिछड़ापन, निरक्षरता हमारे विकास के मार्ग में अवरोध हैं। हम आज भी आधुनिकता के दौर में पुरानी रूढ़ियों से बुरी तरह जकड़े हुए हैं। हमारा जीवन गतिशील व विकासोन्मुख नहीं के बराबर है। हमारे परिवार की संस्कृति आबादी की भीड़ के कारण नष्ट हो चुकी है। आज सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक विकास के समक्ष प्रश्न चिन्ह-सा लगा हुआ है। हमने जीवन में एक मानवीय संवेदनापूर्ण आकांक्षा व जीवन-मूल्यों से भरे सुखद, आह्लादक जीवन की परिकल्पना की थी। इन सारे सपनों को हमने परिवार का आकार बढ़ाकर ध्वस्त कर दिया है।

जनसंख्या की वर्तमान स्थिति से उत्पन्न हुई जनसंख्या शिक्षा के विवेकपूर्ण शैक्षिक अवबोध की तलाश है। मनुष्य जनसंख्या की वृद्धि से कितना व्यग्र व अशान्त है यह तो स्कूल-कॉलेज के दाखिले से लेकर अस्पताल, रेल, बस आदि सब जगह भीड़ ही भीड़ से स्वयं प्रमाणित है। जीवन में कोलाहल छाने का प्रमुख कारण परिवार के आकार में वृद्धि ही है।

विकास जीवन की प्रबुद्ध राह है। मनुष्य विकास से जुड़ा हुआ प्राणी है। बढ़ती आबादी ने इस धारणा के खंड-खंड कर दिए जिसके कारण आज वह न तो भावी पीढ़ी के संस्कृति संस्कार, गुणवत्ता, जीवन के प्रति संवेदनशील व सक्रिय है न ही वह सामाजिक, आर्थिक विकास का घटक बन पा रहा है। जनसंख्या के संबंध में जी.सी. हिप्पल के विचार आज भी उत्प्रेरक हैं — "एक राष्ट्र की सम्पदा भूमि, जल, वन, खान, झुंडों, गिरोहों, डालर में नहीं है बल्कि किसी राष्ट्र की सम्पदा स्वस्थ, प्रसन्न, स्त्री, पुरुष और बच्चे हैं।"

जनसंख्या वृद्धि क्या है?

जनसंख्या वृद्धि के तीन स्तर हैं—

- ☐ पहली स्थिति में जन्म दर और मृत्यु दर समान होती है।

- दूसरी स्थिति में जन्म दर बढ़ी रहती है और मृत्यु दर घट जाती है। ऐसी स्थिति में आबादी में तीव्रगति से वृद्धि होती है।
- प्रव्रजन— जनसंख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण हो जाना। प्रव्रजन आव्रजन का भी प्रभाव हमारे देश की जनसंख्या पर पड़ रहा है।

जन्म दर, मृत्यु दर दोनों में गिरावट आती है। जन्म दर से तात्पर्य एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या पर जीवित जनसंख्या को जन्म दर कहते हैं। मृत्यु दर, एक वर्ष में प्रति हजार जनसंख्या पर मृत्यु की प्राप्त व्यक्तियों की संख्या को मृत्यु दर कहते हैं।

जनसंख्या वृद्धि की स्थिति

भारत वर्ष की जनसंख्या वृद्धि को जनगणना के आंकड़ों के माध्यम से देखा जा सकता है।

वर्ष	*करोड़ में*
1901	23.83
1911	25.21
1921	25.13
1931	27.90
1941	31.86
1951	36.11
1961	43.92
1971	54.82
1981	68.52
1991	84.39
2001	100.00

भारत वर्ष में 1921 तक जनसंख्या वृद्धि की विभिन्न परंपरा रहीं। जनगणना के अनुसार 1921 जनांकिकी का एक इतिहास प्रस्तुत करता है। 1881-1921 में भारतीय आबादी वास्तव में दो बार अपनी ह्रासोन्मुखी प्रवृति को दिखाती है। वर्ष 1951 तक एक मॉडरेट रेट में दिखती है। वास्तव में 1911-21 में इन्फ्लूएंजा में 20 मिलियन मानव काल के ग्रास बन गए व दूसरी अन्य संक्रामक बीमारियों का भी इसमें योगदान रहा। 1943 में बंगाल के अकाल में तीन मिलियन लोग अकाल के ग्रास बन गए। यह जनसंख्या का स्थायित्व पश्चिम के औद्योगिक देशों से भिन्न जनांकिकी स्थायित्व था। यह वास्तव में गरीबी, अशिक्षा, कुस्वास्थ्य का सूचनांक था जो सरकार के दायित्व की ओर संकेत करता था। जन्म दर और मृत्यु दर दोनों ऊंची थीं और वार्षिक वृद्धि दर एक प्रतिशत थी, यह 1941 से 1951 का जनांकिकी का संक्रमण काल था। 1951-61 के दशक में मृत्यु दर बहुत शीघ्रता के साथ गिरने लगी और जन्म दर ऊंची रही। 1941-1951 के बाद यह दूसरा संक्रमण काल 1951-1961 के दशक का था। इस प्रकार से हमारी आबादी में द्रुत गति से वृद्धि के चिह्न गोचर हुए। 2001 की जनगणना में हमारी आबादी 100 करोड़ से अधिक हो गई। सम्प्रति भारत विश्व का दूसरा जनसंख्या बहुल देश है।

ऐसा अनुभव किया गया कि अनियोजित जनसंख्या आजादी के पूर्व से होनी आरंभ हो गई थी। इस स्थिति पर समाज सुधारक, राजनैतिक नेताओं ने तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या पर चिन्ता जाहिर की और 1950 में भारत वर्ष में जनसंख्या नीति को लागू किया।

जनसंख्या शिक्षा एक शैक्षिक हस्तक्षेप है

आज 21वीं सदी के संदर्भ में शिक्षा का दायरा बहुत विस्तृत हो गया है। सामाजिक समस्याओं के निदान में शिक्षा के अग्रचरण द्रुतगति से बढ़ रहे हैं। जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण पाना एक वैश्विक चुनौती है। भारत वर्ष में परिवार कल्याण के माध्यम से भी परिवार नियोजन आदि माध्यमों से बढ़ती जनसंख्या पर अंकुश लगाने की कोशिश की गई किन्तु आकांक्षित सफलता नहीं मिल पाई। विश्व स्तर पर सोचा गया कि विचार परिवर्तन के द्वारा जनसंख्या पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

शिक्षा वैचारिक, सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। सामाजिक, बौद्धिक तथा आर्थिक विकास की गुणवत्ता के लिए जनसंख्या शिक्षा की पूर्ण प्रासंगिकता है। ऐसे कार्यक्रम में समय-मान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

हमारी राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में जब शिक्षा का हस्तक्षेप होता है तो हस्तक्षेप के लिए किसी प्रक्रिया का अवलम्बन लेना होता है। पूरी तरह जनसंख्या वृद्धि जैसे दानव से निजात पाने के लिए शिक्षा एक अमोघ अस्त्र है। समय की पुकार पर शैक्षिक योजनाबद्ध कार्यक्रम के माध्यम से छोटे परिवार के मानक को भावी पीढ़ी के समक्ष रखना है। अपने जीवन में बड़े परिवार की खस्ताहाल स्थिति का अध्ययन कर के सोच सकेंगे कि परिवार बढ़ाकर हमने 100 करोड़ की आबादी कर ली। जिससे हमारी सुख-सुविधाओं में कमी आ गई है तथा पारिवारिक परिवेश का सुसंस्कृत ढांचा ध्वस्त हो गया है।

आबादी के बढ़ने पर भूमि, जल, वायु, प्राकृतिक संपदाओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानव को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। संतुलित पौष्टिक आहार भी मिलना दुर्लभ हो गया है। वस्त्र, आवास, चिकित्सा, शिक्षा, रोजगार के अवसर की दृष्टि से समस्या की विकटता जीवन को क्षत-विक्षत कर रही है। जीवन जीना अब भार हो गया है।

जीवन में गुण पर परिमाण हावी हो गया है जिसके चलते जीवन की गुणवत्ता में कमी आई है। जीवन की गुणवत्ता की ह्रासोन्मुखी प्रवृति, मनोरंजन की सामग्री, पुस्तक क्रय, खेल-खिलौने, मनोरंजन की अन्य सुविधाएं तथा जीवन स्तर में कमी आई है। सम्पूर्ण रूप से देखा जाए तो आज जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को मुहैया करने में हमें दिक्कतें हो रही हैं।

जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि से नाना प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। इसलिए शैक्षिक हस्तक्षेप आवश्यक है ताकि विचारधारा को मोड़ा जा सके और भावी पीढ़ी में परिवार के छोटे आकार के प्रति सोच-समझ विकसित हो सके।

जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न सामाजिक विसंगतियों को दूर करने के लिए जनसंख्या शिक्षा एक प्रभावी कदम है। जनसंख्या शिक्षा की प्रासंगिकता है क्योंकि यह राष्ट्रीय समस्याओं में मूल समस्या है। जनसंख्या वृद्धि पर एक अनुशासन नियंत्रण की दिशा में सोचने-समझने, निर्णय लेने की शक्ति का विकास करना है। "बढ़ती जनसंख्या, घटती सुविधाएं" की जानकारी से भावी पीढ़ी जो कक्षा में तैयार हो रही है उसे जनसंख्या वृद्धि का भोजन, वस्त्र, आवास, यातायात, पर्यावरण, स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, सुविधा आदि पर पड़ने वाले प्रभाव से अवगत कराना है।

शिक्षा सही मायने में एक सामाजिक राष्ट्रीय व्यवस्था का सिलसिला है। आज जनसंख्या वृद्धि का सीनेरियो यह है कि हमारी आबादी की रफ्तार तेज होने से अन्न, आवास की आवश्यकता बढ़ने लगी है। यह ध्यातव्य है कि विश्व की कुल आबादी की 16 प्रतिशत आबादी भारत में है जबकि 2.4 प्रतिशत भूमि ही भारत के पास है। यह आने वाले समय में सर्वाधिक आबादी वाला देश हो जाएगा ऐसा अनुमान है।

आवासीय व अन्न की समस्या के समाधानार्थ जंगलों को काटकर खेत व मकान बनाए जा रहे हैं। जंगलों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। हमारी वन सम्पदा शक्ति कम होती जा रही है। हमारी शक्ति के अन्य स्रोत वनों के विनाश से हमारी संस्कृति, सभ्यता भी प्रभावित हो रही हैं पर्यावरण पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। स्वच्छ वायु का भी अभाव नानाधिक रोगों को उत्पन्न कर रहा है, बाढ़ का खतरा भी हो रहा है।

हमारी आबादी बढ़ने का कारण हैं कम उम्र में विवाह तथा शिशु मृत्यु दर का अधिक होना तथा समाज में फैली भ्रांति धारणाएं ही। अशिक्षा, पिछड़ापन, गरीबी भी जनसंख्या बढ़ने का कारण है। इससे एक प्रश्न उभरता है कि अभिभावक के उत्तरदायी व्यवहार से जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि पर अंकुश लगाया जा सकता है कवि सुमित्रानन्दन पंत ने कहा है–

सुन्दर है विहग सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम

अभिभावकों का उत्तरदायित्व केवल बच्चों को जन्म देना ही नहीं, बलिक उनका सही लालन-पालन भी है। सह चेतना भावी पीढ़ी में शिक्षण के माध्यम से तो वे समझेंगे कि आय के स्रोत से परिवार की गुणवत्ता का संबंध है। अभिभावक के रूप में भावी पीढ़ी के अभिभावकीय उत्तरदायित्व से परिचित कराना है ताकि उन्हें बच्चों के वस्त्र, आवास, शिक्षा, मनोरंजन, पौष्टिक

आहार देने योग्य ही परिवार के आकार को बढ़ाना होगा। सब प्रकार से जनसंख्या शिक्षा मानवीय संतुलन विकास से संबंधित है।

जनसंख्या शिक्षा क्या है?

जनसंख्या शिक्षा चेतना जागृति की शिक्षा है। वर्तमान समय में जनसंख्या विस्फोट के परिदृश्य से भावी पीढ़ी को अवगत कराना है ताकि वो दिन रात जो जनसंख्या वृद्धि के कारणों, समस्याओं को झेलते हैं, भोगते हैं, उसका अनुभव करते हैं, उसके प्रति संकेत और जागरूक होकर अपने भावी जीवन में परिवार के आकार के प्रति एक विवेक पूर्ण सोच-समझ विकसित कर सकते हैं। यह चेतना जागृति की शिक्षा है।

जनसंख्या शिक्षा के क्षेत्र

- ☐ जनांकिकी जनसंख्या वृद्धि की स्थिति तथा जनांकिकी के विभिन्न पहलु जनसंख्या वृद्धि के कारक व परिणाम
- ☐ जनसंख्या– सामाजिक विकास
- ☐ जनसंख्या शिक्षा आर्थिक विकास
- ☐ जनसंख्या स्वास्थ्य व पोषण
- ☐ जैविक तत्व– पारिवारिक जीवन व जनसंख्या
- ☐ जनसंख्या पर्यावरण व प्रदूषण।

ये क्षेत्र पाठ्यक्रम के विषय अर्थशास्त्र, जीव विज्ञान, शारीरिक शिक्षा, समाज विज्ञान, गृह विज्ञान, पर्यावरण आदि विषयों से संबंधित हैं। इन क्षेत्रों से कुछ संदेश लिए गए जिनकी पहुंच को विद्यालयी छात्रों के बीच ले जाना है। प्रारंभिक दौर के संदेश निम्नलिखित हैं–

- ☐ जनसंख्या परिवर्तन पर्यावरण व संसाधन विकास
- ☐ जनसंख्या जनित धारणाएं व मूल्य
- ☐ नारी की स्थिति
- ☐ देर से विवाह
- ☐ उत्तरदायी अभिभावक
- ☐ परिवार का आकार व परिवार कल्याण
- ☐ किशोरावस्था शिक्षा।

कैरो के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में व्यक्ति के संतुलित विकास पर ध्यान केन्द्रित किया गया। विकास से जनसंख्या को जोड़ा गया और जनसंख्या स्थिरीकरण पर बल दिया गया। कैरो सम्मेलन के आधार पर जनसंख्या शिक्षा के निम्नलिखित मुद्दे निर्धारित किए गए–

- ☐ परिवार
- ☐ परिवार का आकार व स्वरूप
- ☐ व्यक्ति के अधिकार व कर्तव्य
- ☐ प्रजनन स्वास्थ्य
- ☐ जनसंख्या तथा विकास
- ☐ जनसंख्या स्थिरीकरण
- ☐ बालिका शिक्षा
- ☐ महिला समता, समानता, सशक्तिकरण आदि।

शिक्षा जीवन में परिवर्तन लाती है। वर्तमान पाठ्यक्रम में दिए गए मुद्दों से ही प्रसंगानुकूल वर्ग-कक्ष में जनसंख्या शिक्षा के संदेशों की चर्चा कर छात्रों में जागरूकता लाई जा सकती है विद्यालयी कार्यक्रम में पाठ्यगामी और सहपाठ्यगामी क्रियाशीलनों के माध्यम से जनसंख्या शिक्षा का सकारात्मक रूप प्रदान किया जाएगा। शिक्षण प्रक्रिया में जाने पर जनसंख्या वृद्धि से उत्पन्न सभी समस्याओं से छात्र अवगत हो सकेंगे। स्वचिन्तन की प्रक्रिया और दिन-रात जनसंख्या वृद्धि की क्रूर लहरों के थपेड़ों से उत्पन्न ज्ञान के आधार पर वे अपने भावी जीवन में जब पारिवारिक दायित्व में प्रवेश करेंगे तो छोटे आकार के परिवार की अवधारणा को क्रियान्वित करेंगे। सर्वतोभावेन जनसंख्या शिक्षा जागरूकता व विचार की शिक्षा है। ☐☐

(1) शिक्षक शिक्षा महाविद्यालय
भागलपुर, बिहार
(2) तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर, बिहार

राजस्थान में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों के छात्रों के व्यक्तित्व, अनुशासन, आचरण तथा नैतिक मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन

❑ अशोक कुमार शर्मा
❑ मीनू अग्रवाल

भविष्य के स्वरूप को संवारने हेतु आवश्यक है कि वर्तमान विद्यालयों के छात्रों में नैतिकता का विकास हो, वे अनुशासित हों, उनमें आचरण अच्छा हो तथा नेतृत्व उच्च कोटि का हो। इसी ध्येय को लेकर समय-समय पर विभिन्न आयोगों व नीतियों का निर्माण किया गया। इनके द्वारा दिए गए प्रस्तावों को सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों ने सामान्यतः स्वीकार किया, परन्तु इनका क्रियान्वयन बेहद उदासीन ढंग से किया गया है। विद्यालय इस विषय में अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग नहीं हैं और छात्रों के व्यक्तित्व के विकास व मूल्यों की स्थापना में निश्चित नियोजित प्रयत्न प्रायः नहीं के बराबर कर रहे हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में शिक्षा का प्रचार तीव्रता से हुआ है। प्रारम्भिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक के सभी स्तरों की शिक्षण संस्थाओं की संख्या में वृद्धि हुई है। किन्तु संख्या-वृद्धि को शिक्षा की महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं कहा जा सकता वरन् शिक्षित व्यक्ति के सोचने-समझने और व्यवहार-आचार की पद्धति के स्तरों का उत्थान ही वास्तविक उपलब्धि कहलाती है।

देश के भविष्य के स्वरूप को संवारने हेतु आवश्यक है कि वर्तमान विद्यालयों के छात्रों में नैतिकता का विकास हो, वे अनुशासित हों, उनमें आचरण अच्छा हो तथा नेतृत्व उच्च कोटि का हो। इसी ध्येय को लेकर समय-समय पर विभिन्न आयोगों व नीतियों का निर्माण किया गया। इनके द्वारा दिए गए प्रस्तावों को सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों ने सामान्यतः स्वीकार किया परन्तु इनका क्रियान्वयन बेहद उदासीन ढंग से किया गया है। विद्यालय इस विषय में अपने उत्तरदायित्वों के प्रति सजग नहीं हैं और छात्रों के व्यक्तित्व के विकास व मूल्यों की स्थापना में निश्चित नियोजित प्रयत्न प्रायः नहीं के बराबर कर रहे हैं।

अतः शोधार्थी के शोध का उद्देश्य यह जानना है कि कौन-से विद्यालय इस दिशा में प्रयत्नशील हैं? शरीर (भौतिक संसाधन), बुद्धि (शैक्षिक वातावरण), मन (सहपाठ-क्रियाकलाप), प्राण (मानवीय संसाधन) व आत्मा (सामाजिक चेतना) की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न विद्यालयों की कौन-सी क्रियाएं उपरोक्त दिशा में प्रयत्नशील हैं। इसके साथ ही शोधार्थी का ध्येय यह जानना है कि सम्पूर्ण राजस्थान में बड़े पैमाने पर कार्यरत संस्थाएं जैसे– विद्या भारती जिसमें लगभग 18000 विद्यालय, 22 लाख विद्यार्थी तथा 85 हजार अध्यापक हैं। राज्य सरकार जिसमें लगभग 35000 विद्यालय या केन्द्र सरकार जिसमें लगभग 56 विद्यालय हैं, इस दिशा में कितनी प्रयत्नशील हैं?

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

- ☐ विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के विद्यार्थियों में व्यक्तित्व का अध्ययन करना।
- ☐ विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के विद्यार्थियों में अनुशासन का अध्ययन करना।
- ☐ विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के विद्यार्थियों में आचरण का अध्ययन करना।
- ☐ विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के विद्यार्थियों में नैतिक मूल्यों का अध्ययन करना।
- ☐ विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के विद्यार्थियों में अनुशासन, आचरण व नैतिक मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

विधि

शोध अध्ययन के लिए नॉर्मेटिव सर्वेक्षण विधि प्रयुक्त की गई है।

जनसंख्या

जनसंख्या का क्षेत्र सम्पूर्ण राजस्थान के संभाग केन्द्र हैं। इन संभाग क्षेत्रों से अधिक संख्या में विद्यालयों को संचालित करने वाली शैक्षिक संस्थाओं के कक्षा 12 के छात्रों का चयन न्यादर्श के रूप में किया गया।

न्यादर्श

शोध कार्य हेतु प्रतिदर्श का चयन पुंजानुसार प्रतिचयन विधि से निम्न संभागीय केन्द्रों से किया गया है– ● जयपुर ● उदयपुर ● कोटा ● जोधपुर ● बीकानेर ● अजमेर।

उपरोक्त संभाग केन्द्रों से निम्न शैक्षिक संस्थाओं का अध्ययन किया गया है–

- ☐ विद्या भारती, अखिल भारतीय शिक्षा समिति, राजस्थान द्वारा संचालित विद्यालय।
- ☐ आर्य समाज द्वारा संचालित विद्यालय।
- ☐ राजस्थान सरकार द्वारा संचालित विद्यालय।
- ☐ केन्द्र सरकार द्वारा संचालित विद्यालय।
- ☐ ईसाई मिशनरी द्वारा संचालित विद्यालय।

अध्ययन के चर

प्रस्तुत शोध कार्य में निम्मिलिखित चर सम्मिलित किए गए हैं–

- ☐ स्वतंत्र चर– विद्यालयों का प्रकार (विद्यालयों का संगठनात्मक स्वरूप)
- ☐ परतंत्र चर– ● व्यक्तित्व ● अनुशासन ● आचरण ● नैतिक मूल्य
- ☐ नियंत्रित चर– ● लिंग (केवल छात्र-छात्राएं नहीं) ● शैक्षिक स्तर (केवल माध्यमिक स्तर के छात्र) ● सामाजिक-आर्थिक स्तर

सामाजिक-आर्थिक स्तर के चर को नियंत्रित करने के लिए आयकर के आधार पर उच्च व निम्न दो समूह बनाए गए।

उपकरण

प्रस्तुत शोध कार्य में निम्न उपकरणों का चयन किया है–

- ☐ किशोर व्यक्तित्व परीक्षण–श्रीमती ए. पाण्डे
- ☐ अनुशासनात्मक व्यवहार मापनी– श्री ए. शुक्ला
- ☐ नैतिक मूल्य परीक्षण– विद्या भारती प्रकाशन
- ☐ विद्यार्थी आचरण मापनी – इसका निर्माण स्वयं शोधार्थी द्वारा किया गया
- ☐ विद्यालय की जानकारी हेतु अनुसूची– स्वनिर्मित

सांख्यिकी विधियां

शोधार्थी ने टी परीक्षण व प्रसरण विश्लेषण प्रयुक्त किया।

प्रदत्तों की गणना व सांख्यिकी विश्लेषण

शोध अध्ययन के लिए निराकरणीय परिकल्पनाओं का निर्माण किया गया।

परिकल्पना 1

उच्च समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तित्व के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 1

उच्च समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तित्व के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय के प्रकार	कुल (ΣX)	कुल $(\Sigma X)^2$	N	C	SST	SSA	SSW	Mean SSA	Mean SSW	F अनुपात
			dF					4	467	
विद्या भारती	3804	276314	53	2292126041	58359.59	1077.73	57281.86	269.43	122.66	2.20
आर्य समाजी	6531	465035	94							
राजकीय	5448	386856	79							
केन्द्रीय	9540	698328	134							
मिशनरी	7569	523953	112							
कुल	32892	2350486	472							

सार्थकता .05 स्तर पर (F) का मान 2.40
.01 स्तर पर (F) का मान 3.37

सारणी 1 से स्पष्ट है कि 'एफ' का गणना से प्राप्त मान 2.20 है जो कि त्रुटि के .05 स्तर पर एफ (F) सारणी में अंकित मूल्य 2.40 से कम है। अतः संक्रियात्मक परिकल्पना स्वीकार की जाती है अर्थात् पांचों प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के व्यक्तित्व कारकों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

परिकल्पना 2

निम्न समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तित्व कारकों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

आगे सारणी 2 से स्पष्ट है कि एफ का गणना से प्राप्त मान 1.31 है जो कि त्रुटि के .05 स्तर पर सारणी में अंकित मूल्य 2.41 से कम है। अतः परिकल्पना स्वीकृत की जाती है अर्थात् पांचों प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तित्व कारकों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

परिकल्पना 3

उच्च समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 3 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व राजकीय विद्यालयों में, विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में, विद्या भारती व मिशनरी विद्यालयों में और आर्य समाज व केन्द्रीय विद्यालयों में "टी" का गणना से प्राप्त मान, .01 स्तर पर "टी" सारणी के अपेक्षित मान 2.66 से अधिक है जबकि आर्य समाज व राजकीय विद्यालयों और आर्य समाज व मिशनरी विद्यालयों में "टी" का गणना से प्राप्त मान .05 स्तर पर 1.98 से अधिक है। अतः इन विद्यालयी समूहों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर

सारणी 2
निम्न समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के व्यक्तित्व कारकों के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय के प्रकार	कुल (ΣX)	कुल $(\Sigma X)^2$	N	C	SST	SSA	SSW	Mean SSA	Mean SSW	F अनुपात
			dF					4	467	
विद्या भारती	5678	410492	83	1784502.31	42448.69	583.36	41865.33	145.84	111.05	1.31
आर्य समाजी	3918	274508	57							
राजकीय	10623	740641	156							
केन्द्रीय	4512	307138	68							
मिशनरी	1288	94.72	18							
कुल	26109	1826951	382							

सार्थकता .05 स्तर पर एफ का मान 2.41
.01 स्तर पर एफ का मान 3.58

है। जबकि विद्या भारती व आर्य समाज के विद्यालयों, राजकीय व केन्द्रीय विद्यालयों और राजकीय व मिशनरी विद्यालयों में "टी" गणना से प्राप्त मान .05 स्तर पर 1.98 के कम है अर्थात् इन विद्यालयी समूहों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है। इसमें प्रथम स्थान पर विद्या भारती के विद्यालय फिर आर्य समाज, राजकीय, मिशनरी व केन्द्रीय विद्यालय क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे व पांचवे स्थान पर रहे।

परिकल्पना 4

निम्न समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय एवं मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 4 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व राजकीय विद्यालयों में विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में, आर्य समाज व केन्द्रीय विद्यालयों में .01 स्तर पर व विद्या भारती व आर्य समाज के विद्यालयों, राजकीय व केन्द्रीय विद्यालयों में, केन्द्रीय व मिशनरी विद्यालयों में .05 स्तर पर सार्थक अन्तर पाया गया। जबकि विद्या भारती व मिशनरी विद्यालयों में, आर्य समाज व राजकीय विद्यालयों में, आर्य समाज व मिशनरी विद्यालयों में टी का गणना से प्राप्त मान .05 स्तर पर टी सारणी के मान 1. 98 से कम है अर्थात् इन विद्यालयी समूहों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है। निम्न समूह में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम स्थान पर क्रमशः विद्या भारती, मिशनरी, आर्य समाज, राजकीय व केन्द्रीय विद्यालय रहे।

परिकल्पना 5

उच्च समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के आचरण के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 5 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व आर्य

सारणी 3
उच्च समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	52.49	7.27	53	dF	143	129	178	172	522
				T मूल्य	1.32	3.13**	5.21**	3.61**	3.50**
आर्य समाजी	50.76	8.16	92		dF	168	217	211	561
					T मूल्य	2.06*	4.25**	2.51*	0.41
राजकीय	48.04	8.93	78			dF	203	197	547
						T मूल्य	1.83	0.27	0.11
केन्द्रीय	45.61	9.74	127				dF	246	596
							T मूल्य	1.66	0.29
मिशनरी	47.67	9.77	121					dF	590
								T मूल्य	1.78
सभी विद्यालय	48.36	9.31	471						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.00 से 1.98 के मध्य
** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.66 से 2.61 के मध्य

समाज के विद्यालयों में, विद्या भारती व राजकीय विद्यालयों में, विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में तथा विद्या भारती व मिशनरी विद्यालयों में "टी" का गणना से प्राप्त मान .01 स्तर पर 2.66 से अधिक है अर्थात् इन समूहों में आचरण के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है। जबकि आर्य समाज व राजकीय विद्यालयों में, आर्य समाज व केन्द्रीय विद्यालयों में, आर्य समाज व मिशनरी विद्यालयों में, राजकीय व केन्द्रीय विद्यालयों में, राजकीय व मिशनरी विद्यालयों में और केन्द्रीय व मिशनरी विद्यालयों में आचरण के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

उच्च समूह में आचरण की दृष्टि से प्रथम स्थान पर विद्या भारती के विद्यालय, दूसरे स्थान पर राजकीय विद्यालय, तीसरे स्थान पर केन्द्रीय विद्यालय, चौथे स्थान पर आर्य समाज के विद्यालय व पांचवे स्थान पर मिशनरी के विद्यालय पाए गए।

परिकल्पा 6

निम्न समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के आचरण के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 6 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व आर्य समाज के विद्यालयों में, विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में .01 स्तर पर सार्थक अन्तर पाया गया, जबकि अन्य समूहों के आचरण के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

निम्न समूह में आचरण की दृष्टि से प्रथम स्थान

सारणी 4
निम्न समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के अनुशासनात्मक व्यवहारों के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	53.83	6.79	83	dF	142	237	147	101	467
				T मूल्य	2.21*	3.90**	4.31**	1.20	3.80**
आर्य समाजी	51.48	5.91	61		dF	215	125	79	445
					T मूल्य	1.47	2.86**	0.16	0.41
राजकीय	50.03	7.85	156			dF	220	174	540
						T मूल्य	2.04*	1.02	0.11
केन्द्रीय	46.83	11.71	66				dF	84	450
							T मूल्य	2.31*	0,29
मिशनरी	51.75	7	20					dF	404
								T मूल्य	1.78
सभी विद्यालय	50.56	8.44	386						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.02 से 1.98 के मध्य
** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.7 से 2.6 के मध्य

पर विद्या भारती के विद्यालय, दूसरे स्थान पर मिशनरी विद्यालय, तीसरे स्थान पर आर्य समाजी विद्यालय, चौथे स्थान पर केन्द्रीय विद्यालय व अन्तिम स्थान पर राजकीय विद्यालय पाए गए।

परिकल्पना 7

उच्च समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 7 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व आर्य समाज के विद्यालयों में, विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में, विद्या भारती व मिशनरी विद्यालयों में, राजकीय व मिशनरी विद्यालयों में, राजकीय व केन्द्रीय विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है जबकि अन्य विद्यालयी समूहों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया।

उच्च समूह में नैतिक मूल्यों की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम स्थान पर क्रमशः विद्या भारती, राजकीय, आर्य समाजी, केन्द्रीय व मिशनरी विद्यालय पाए गए।

परिकल्पना 8

निम्न समूह में विद्या भारती, आर्य समाजी, राजकीय, केन्द्रीय व मिशनरी संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

सारणी 5

उच्च समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के आचरण के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	334.21	40.05	53	dF	145	125	182	169	521
				T मूल्य	3.67*	2.82**	3.63**	4.72**	4.08**
आर्य समाजी	307.96	44.26	94		dF	166	223	210	562
					T मूल्य	0.37	0.10	1.03	0.45
राजकीय	310.78	53.40	74			dF	203	190	542
						T मूल्य	0.29	1.23	0.11
केन्द्रीय	308.59	50.51	131				dF	247	599
							T मूल्य	1.15	0.29
मिशनरी	301.60	45.28	118					dF	586
								T मूल्य	1.76
सभी विद्यालय	310.03	48.12	470						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.00 से 1.98 के मध्य

** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.66 से 2.61 के मध्य

सारणी 8 से स्पष्ट है कि विद्या भारती व आर्य समाज के विद्यालयों में, विद्या भारती व राजकीय विद्यालयों में, विद्या भारती व केन्द्रीय विद्यालयों में, आर्य समाज व राजकीय विद्यालयों में, आर्य समाज व मिशनरी विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर है जबकि अन्य विद्यालयी समूहों के मध्यमानों में सार्थक अन्तर नहीं है।

निम्न समूह में नैतिक मूल्यों की दृष्टि से विद्या भारती, मिशनरी, राजकीय, केन्द्रीय व आर्य समाज के विद्यालय क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम स्थान पर पाए गए।

शैक्षिक निहितार्थ

प्रस्तुत शोध अध्ययन से–

- राजस्थान की प्रमुख शैक्षिक संस्थाओं का मूल्यांकन हुआ है, जिससे इन संस्थाओं के प्रबन्धकों को आत्मचिन्तन व विकास हेतु नवीन दिशा मिल रही है।
- शिक्षकों के चयन व उनके लिए आचार संहिता के निर्माण हेतु नवीन दिशा विकसित हुई है।
- विद्यालयों के पाठ्यक्रमों के निर्माण में व्यक्तित्व, अनुशासन, आचरण तथा नैतिक मूल्यों के सन्दर्भ में विषय-वस्तु व विभिन्न पाठ्य-सहगामी क्रियाओं

सारणी 6

निम्न समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के आचरण के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	342.39	33.08	83	dF	142	236	149	101	468
				T मूल्य	4.06**	5.11**	3.99**	1.28	4.81**
आर्य समाजी	315.92	42.22	61		dF	214	127	79	446
					T मूल्य	0.26	0.07	0.80	0.41
राजकीय	314.17	51.72	155			dF	221	173	540
						T मूल्य	0.17	0.97	0.11
केन्द्रीय	315.35	47.21	68				dF	86	453
							T मूल्य	0.83	0.29
मिशनरी	326.40	53.43	20					dF	405
								T मूल्य	1.78
सभी विद्यालय	321.21	47.26	387						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.02 से 1.98 के मध्य

** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.70 से 2.61 के मध्य

के समावेश हेतु नवीन संकेत ज्ञात हुए हैं।

- ☐ केन्द्र व राज्य सरकार को शैक्षिक योजना के निर्माण व बजट निर्माण में ध्यान रखे जाने वाले तथ्यों से अवगत होने का अवसर मिल रहा है।
- ☐ पुस्तकों के निर्माण में नवीन विषय-वस्तु के समावेश व उनके प्रस्तुतीकरण के सन्दर्भ में नए विचार ज्ञात हो रहे हैं।
- ☐ इस शोध अध्ययन से उन सभी विद्यालयों के प्रबन्धकों, प्राचार्यों तथा शिक्षकों को पुनर्बलन मिल रहा है जहां के छात्रों ने इस अध्ययन में उच्च अंक प्राप्त किए हैं।
- ☐ अन्य सभी विद्यालयों के लिए यह शोध कार्य आत्मविश्लेषण करने व अपनी विद्यालयी योजना में नवीन तत्वों के समावेश हेतु प्रेरणा का कार्य कर रहा है।
- ☐ विद्या भारती के विद्यालयों के कार्यक्रमों जैसे— प्रभावी प्रार्थना सभा, संस्कृति बोध परियोजना, अभिभावक-सम्पर्क कार्यक्रम, गीत-संगीत आदि की प्रभावशीलता इन कार्यक्रमों की उपादेयता को सिद्ध करती है तथा अनुकरण के लिए प्रेरित करती है।

अन्य सुझाव

छात्रों में नैतिक मूल्यों का निर्माण करने व उनमें अनुशासन, आचरण व व्यक्तित्व की दृष्टि से विकास हेतु कुछ सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं—

- ☐ शिक्षण सत्र की अवधि में वृद्धि की जाए। जयन्तियों,

सारणी 7

उच्च समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के आचरण के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	44.12	9.23	50	dF	1402	124	177	169	516
				T मूल्य	66**	1.27	3.77**	4.37**	3.35**
आर्य समाजी	39.51	10.91	92		dF	166	219	211	558
					T मूल्य	1.42	0.92	1.67	0.41
राजकीय	41.87	10.51	76			dF	203	195	542
						T मूल्य	2.47*	3.14**	0.29
केन्द्रीय	38.18	10	129				dF	248	595
							T मूल्य	0.89	0.29
मिशनरी	37.01	10.69	121					dF	587
								T मूल्य	1.78
सभी विद्यालय	39.46	10.52	468						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 1.98 से 1.96 के मध्य
** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.61 से 2.57 के मध्य

पर्वों आदि पर होने वाले अवकाशों को समाप्त कर उन्हें सेवा योजना, पाठ्य-सहगामी क्रियाओं आदि से जोड़ना चाहिए।

- शिक्षकों की उन्नति का आधार उनके द्वारा किया जाने वाला शोध कार्य, नवीन विधियों का शिक्षण में समावेश, मूल्यों व आचरण की दृष्टि से की जाने वाली विद्यालयी क्रियाएं होनी चाहिए।
- पाठ्यक्रम निर्माण में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ प्रायोगिक पक्ष को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए।
- पुस्तक लेखन में विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया जाए कि उनमें नवीन तथ्यों, उदाहरणों व रंगीन पृष्ठों का समावेश हो तथा लेखन की नवीन, विधाओं का प्रयोग किया जा सके।
- व्याख्यान मालाओं का आयोजन किया जाए और उनमें क्षेत्र विशेष के विशेषज्ञ अपने क्षेत्र के अनुभवों से व्यावहारिक ज्ञान दें।
- ऐसे छात्रों को पुरस्कृत किया जाए जिन्होंने वर्ष भर अच्छे आचरण व अनुशासन का प्रदर्शन किया हो।
- विद्यालयी योजना में प्रतिवर्ष विद्यालयी क्रियाओं व उपलब्धियों के मूल्यांकन का प्रावधान होना चाहिए।
- ऐसे नवीन पाठ्यक्रमों को सम्मिलित किया जाना चाहिए जो बालकों के सर्वांगीण विकास में सहायक हों।
- शिक्षक को, विद्यार्थियों की समस्याओं पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देकर व पारिवारिक सम्पर्क कार्यक्रम

सारणी 8

निम्न समूह में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्रों के नैतिक मूल्यों के मध्यमानों में अन्तर

विद्यालय का प्रकार	*मध्यमान*	*मानक विचलन (σ)*	*N*	*विद्यालय का प्रकार*	*आर्य समाजी*	*राजकीय*	*केन्द्रीय*	*मिशनरी*	*सभी विद्यालय*
विद्या भारती	46.33	7.19	78	dF	117	231	144	96	438
				T मूल्य	4.19**	3.35**	4.03**	1.03**	4.01**
आर्य समाजी	37.73	12.07	41		dF	194	107	59	401
					T मूल्य	2.58*	1.26	2.08*	0.41
राजकीय	42.86	7.97	155			dF	221	173	515
						T मूल्य	21.73	0.42	0.11
केन्द्रीय	40.53	9.78	68				dF	86	428
							T मूल्य	1.30	0.29
मिशनरी	43.85	10.12	20					dF	380
								T मूल्य	1.78
सभी विद्यालय	42.53	9.29	362						

सार्थकता * .05 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.04 से 1.96 के मध्य

** .01 स्तर पर "टी" का मूल्य 2.70 से 2.61 के मध्य

द्वारा छात्र सम्बन्धों को मधुर बनाना चाहिए।

- छात्रों को उनकी रुचियों के अनुसार पाठ्य-सहगामी क्रियाओं में प्रतिभागी होने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(1) श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर शिक्षा महाविद्यालय
केशव विद्यापीठ, जामडोली, जयपुर
(2) लालबहादुर शास्त्री महिला शिक्षक
प्रशिक्षण महाविद्यालय, जयपुर
राजस्थान

परिषद् की "भारतीय आधुनिक शिक्षा" एवं "प्राइमरी शिक्षक" त्रैमासिक पत्रिकाओं के ग्राहकों, पाठकों तथा लेखकों से निवेदन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की उपर्युक्त उल्लेखित दो त्रैमासिक पत्रिकाएं शिक्षा जगत में राष्ट्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर हो रहे अनेक प्रयोगों, अनुसंधानों, कार्यक्रमों व गतिविधियों को पाठकों तक पहुंचाने के सुगम माध्यम हैं। इन पत्रिकाओं का प्रकाशन विशेष रूप से विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत शिक्षाविदों, शिक्षकों, शिक्षक-प्रशिक्षकों तथा पाठ्यक्रम निर्माताओं को समर्पित है। इनके प्रत्येक संस्करण में ऐसे नवीनतम लेखों के प्रकाशन को प्राथमिकता दी जाती है जो शैक्षिक नीतियों से संबंधित हों, गुणात्मक सुधार की दिशा में उल्लेखनीय प्रयोग हों, अधिगम को सुरुचिपूर्ण तथा ग्राह्य बनाने की दिशा में निजी अनुभव अथवा शोध कार्य हों, विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के विवरण हों, शिक्षण-प्रशिक्षण संबंधी प्रभावी सामग्री हो। शैक्षिक उपयोगिता की दृष्टि से ये पत्रिकाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथा परिषद् इन्हें मूल लागत से भी बहुत कम कीमत पर पाठकों को उपलब्ध कराती है।

इन पत्रिकाओं के लिए उत्कृष्ट स्तर के शिक्षाप्रद प्रभावी लेख सहर्ष स्वीकार किए जाते हैं तथा उनके प्रकाशन के उपरांत समुचित मानदेय देने की भी व्यवस्था है। लेख की विषय-वस्तु 2500 से 3000 शब्दों या अधिक टंकित रूप में होना वांछनीय है। कृपया अपने लेख निम्न पते पर भेजें :

विभागाध्यक्ष (पत्रिका प्रकोष्ठ), प्रकाशन विभाग,
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली–110 016

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली -110 016 के लिए प्रकाशित तथा जैन कम्प्यूटर, शकरपुर, दिल्ली द्वारा लेज़र टाईपसैट होकर शगुन आफसेट प्रेस, 92–बी, गली नं. 4 कृष्णा नगर, सफदरजंग एन्कलेव, नई दिल्ली–110 029 द्वारा मुद्रित।

kindergarten on, the children are conditioned to blind obedience.

In some of our schools we practice authoritarianism without being aware of it. Children are brought up intensely conscious of a leader, as a result of class lessons. In a typical schoolroom an authoritarian atmosphere exists between the teacher and the children. In a democratic education, however, the teacher is a participant-leader in small groups of children working on problems. If you turn back to the chart called "Democratic Social Structure versus Authoritarian Social Structure" in Chapter 3, you will see more clearly this distinction between these two types of education. As long as many of our schools are organized in the way pictured in the top part of the diagram, we do not have a democratic educational system. And how can we expect democratic results from authoritarian processes in education? We often try to do what cannot be done: to attain one kind of end by another kind of means.

Many of our school administrations are hierarchical. The superintendent tells his assistants, who tell the principals, who tell the teachers, who tell the children. Authoritarian social structure in education impedes the creative powers of children. Academic authoritarianism is about as bad as political authoritarianism—in some ways worse—because it is more respectable and therefore so much harder to shake off.

The traditional way in which education is fragmented into gong-regulated periods, and book-regulated subjects, makes it difficult for a sympathetic and understanding teacher to lead out (*educo*) the powers that are within growing children. Instead of the integration which we call character, which finds expression in being and doing, we get disintegrated, frustrated, hesitant personalities. Such children will not be an asset to democratic society. Certainly, they will salute the flag—not because they have any

genuine love and understanding of democracy—but because some one orders, "Salute the flag!"

Because many of our schools are big, noisy, knowledge factories, genuine democratic education is hardly possible. However much individual principals or teachers may struggle against this mass-production enterprise, the system is a great mill in which there is a constant danger of the individuality of the child's being submerged. Of necessity the pupils are handled in crowds. The size and design of many schools hamper democratic education Their form is superficially related to the essence of the intimate function of education For teachers and pupils to work together creatively in such structures is so difficult that few succeed at it.

The architecture of many of our schools shows little adaptation or sensitivity to basic changes in educational theory which are under way. The oversized Union Station type of school structure continues in vogue. In these large, fortress-like buildings, children, whom nature intended to be active little beings, are regimented in rows of seats screwed to the floor—"like rows of butterflies transfixed with pins"—as Madame Montessori put it. The result of such a spiritually barren and mechanistic structure is systematic frustration of children. Many of them are inhibited, dominated, and frustrated in both home and school. Some parents and some schools meet successfully the forces of emotional maladjustments. By and large, though, the negative influences that make for repression exceed in power the positive influences that stimulate, release, and train creative potentialities in children. They are often inhibited verbally, "Don't do that!" "Don't go in there!" etc. Thus their basic training is negative rather than positive—don't-democracy instead of do-democracy.

When one considers the kind of education most of the children get, one wonders that juvenile delinquency is not

worse than it is Some of the more spirited individuals, as well as some of the less stable and intelligent, are the ones who rebel first. We try one remedy or another. After awhile we put the delinquent children in cages. Much of our efforts to deal with the problem of juvenile delinquency concerns itself with what kind of cages to build, where to build them, and what judges are to be responsible for filling them. Comparatively little effort is spent on preventive measures. removing the conditions leading to frustration.

The following story illustrates this problem of frustration and unhealthy discipline. A friend of mine relates visiting a grade school several years ago. In the upper hall there were three boys, two small ones and an older one who looked like a seventh grade pupil The little boys were squatting up and down, while the big boy watched. My friend asked the big boy what was happening. "I am giving them the squats," he replied. "What for?" my friend inquired. "They were fighting in line," the big boy asserted, "What else can you do but give them the squats?"

It would be interesting to find out the character-building effects on the older boy who administered the punishment and passed the observation: "What else can you do but give them the squats?" Maybe he is a storm trooper of the future. He could easily learn how some more "refined" forms of punishment, as developed in Nazi concentration camps, make it even more unpleasant to the victim and more "amusing" to the watcher.

The tremendous energy that children have to release some way or another is seen in the above incident. With few workshops in schools, with the usual bookish emphasis in education, with inadequate recreational facilities, and with uninspiring social structure, the energy that is in children is likely to find antisocial outlets. *Authoritarian structure in education develops either children who are*

inhibited and obedient, or children who evolve aggressive traits through being excessively frustrated. Obedient or domineering personalities are the basis of systems like Nazism. To insure the success of democracy, we must prevent the development of both types of persons. We need an educational system which is democratic in structure, which will build human beings capable of living together, rather than dominating each other.

Group Activity in Education

The Progressive Education movement has for long recognized the importance of a democratic educational system. The forerunners of this movement, Rousseau, Pestalozzi, Froebel and others, stress the importance of organizing education in such a way that the child will develop to his highest potentiality In America, John Dewey, Carleton Washburne, and others are the outstanding exponents of this view Dewey's theory is a reaction against authoritarian methods in education. It is also a reaction against an educational system which insists on learning facts and talking about them, rather than on learning by acting. For Dewey, education is not so much preparation for life, but life itself, in schools children should live, not study life.

Progressive education, like the method of do-democracy, is based on the indirect method, not exhortation, but the creation of favorable environment for the acquisition of democratic attitudes and behavior traits It does not inoculate students with knowledge, but enables them to learn how to live and make use of knowledge It stresses living rather than facts and takes into account the total being of the individual, not only his mind. Furthermore, progressive education, like do-democracy, believes that an important task of the schools is to develop the ability to solve problems, to meet concrete situations.

The foundation of sand, underlying much of our education, is the concept that education consists of giving information. This leads to schools organized as academic filling stations, where children sit passively to absorb what is told to them. The foundation of rock, which can make the educational structure firm, is the concept that education is a process of building up behavior traits and attitudes. This gives us active education, in which actual experience comes ahead of, or along with, books.

The danger is that education and democracy tend to be too verbal and fail to acquaint children with the inner meaning of democracy as a kind of society which requires a certain way of acting. *Talk-democracy results from an education which gives only facts and develops opinions. Do-democracy comes as a result of an education which is based on acting and learning together.*

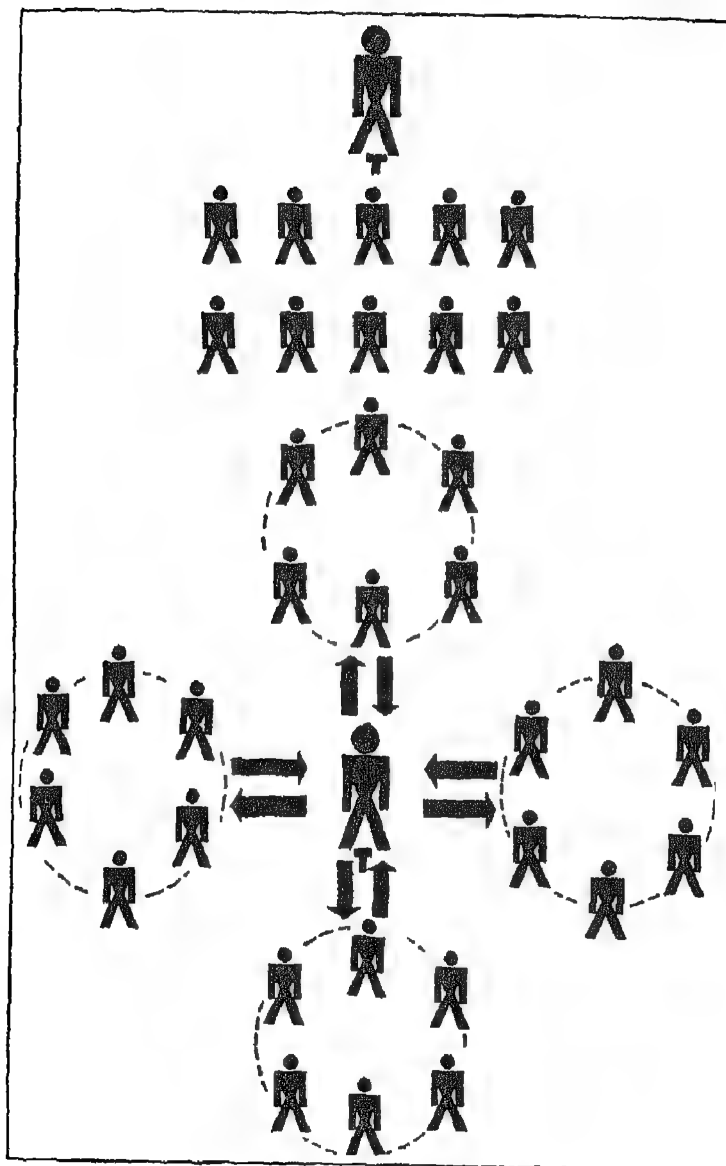
The application of the method to education leads to the stressing of groups and activity:

1. Look again at the lower part of the diagram "Democratic Social Structure versus Authoritarian Social Structure." In such democratic groups, pupils are working together on problems. The result is that children develop their capacities and direct them into activities which help them to grapple with the problems of democratic living. The traditional educational system creates an environment which imposes from above, ignores capacities, and opposes free activity.

Favorable atmosphere for democracy can be created by the down-to-earth application of the problem-centered-group method. The apparently unimportant change from fixed desks to movable chairs would make it possible to subdivide a crowd of fifty children into four groups of workable size.

The implication of democratic structure to the architecture of schools is also worth considering This means that

HOW THE CLASSROOM CAN BE BROKEN INTO GROUPS



the big Union Station school structure has to be broken up into decentralized units Note the illustration which follows. On the top you see the floor plan of a high school in Chicago. The site is large, but the structure is so placed that it kills much of the usefulness of the ground, as an accessory to the school. The building towers like a battleship above a neighborhood of small homes. The very massiveness of such a building overshadows the individual child.

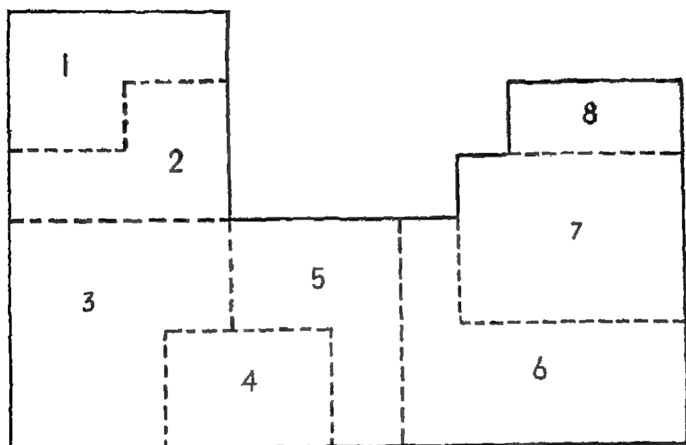
In the lower part is shown how the same floor space, broken into eight smaller buildings, might be arranged in a cluster, more like the architecture of a typical small college The site becomes a campus, useful for recreation, outdoor study, discussion groups, or simple outdoor scientific experiments. Also the classrooms will have more sunlight and air. This proposed architecture would be a step toward making schools less formidable, more flexible, and somewhat more human. In so doing, it will stimulate, to some extent, the flowering of genuine group activity, and more participant-leader teachers. Architecture, of course, is not the dominant factor in setting the tone of the school, but it probably is more potent than we realize.

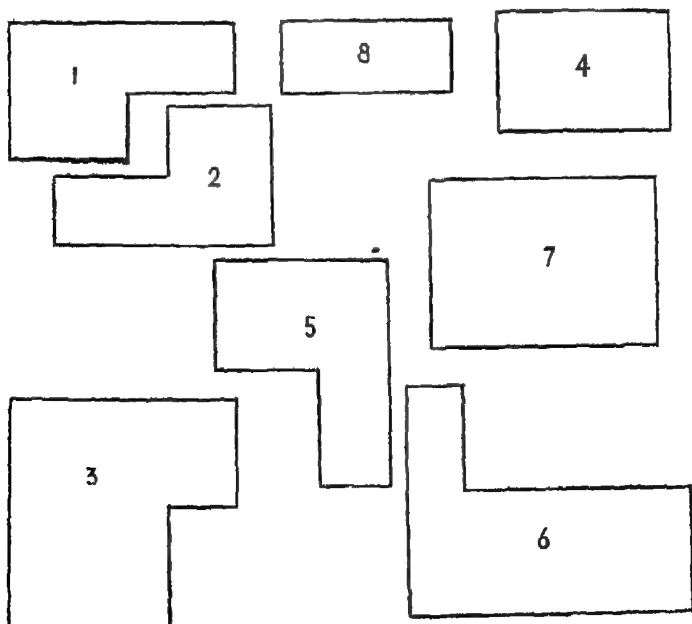
2. Democracy is something you do. Thus it is important that education should not be too verbal. Much of our traditional education does not fit youth for the world Overemphasis on bookishness in education is prevalent. It is not surprising that so many of our boys and girls come out of school with illusions about the world, and find it difficult to meet conditions which demand intensive application of energy, adaptability, and resourcefulness.

Often the training which children get in schools is limited and deficient in manual and muscular activities. In rural and small-town America, where boys and girls live more actively outside of school hours, the consequences of passive posture, fixed routine, and bookish methods of

HOW A BIG BUILDING CAN BE BROKEN INTO SMALLER UNITS

A Chicago High School on a 10-Acre Site is Charted Here Dotted Lines Indicate the Eight Imaginary Buildings into Which the Mammoth Structure Can be Carved.





the traditional classroom are not so apparent. It is otherwise in great cities Here we need more activity projects. The more different kinds of things a child gets to know by handling them, the greater will be his sense of kinship with the world he lives in. The nursery school and the kindergarten are better in this respect than "higher" education, which tends to be bookish.

The most common activity project is the workshop, where children work together in groups. Units of ten children work on mechanical problems of the sort which arise in daily living in their homes. Such workshops combine two essentials· doing (even if only dealing with a simple mechanical problem) and working together.

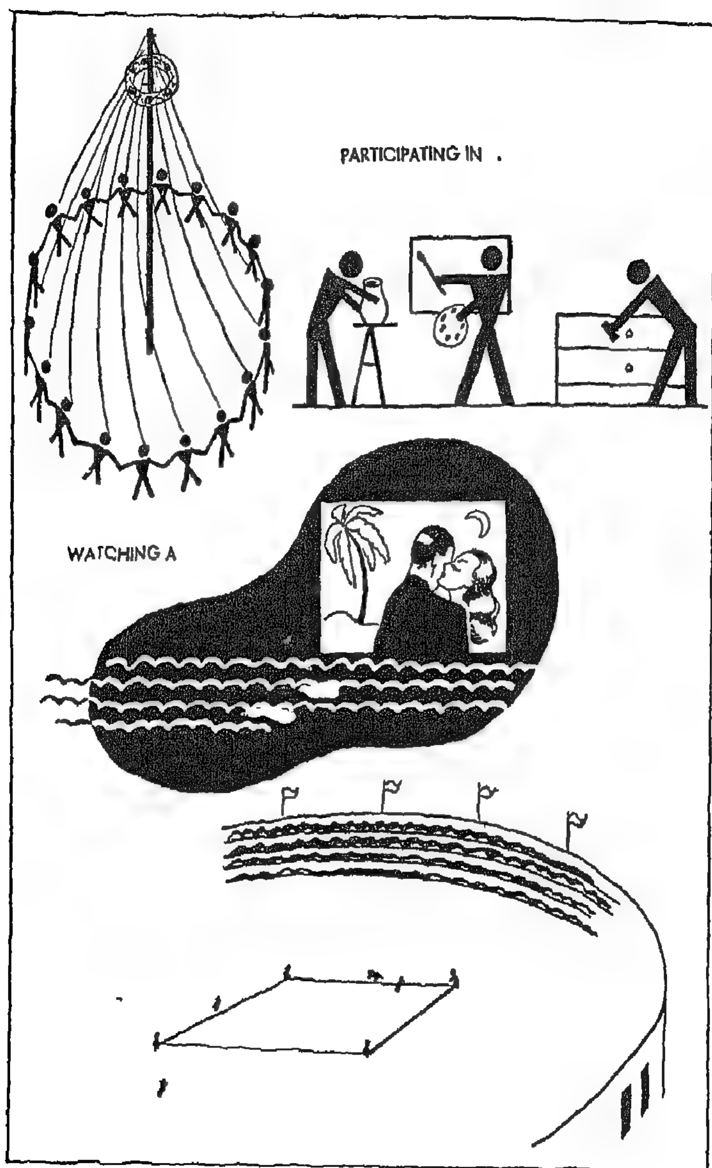
By forming small groups on specific problems or projects (a project is a job to be done, a subject is just a small cargo of knowledge), democratic structure can be created within our educational system. Such education would enhance activity as well as books, acts as well as words, the hand as well as the head. In schools and colleges the student usually starts with words printed on paper. He learns general principles first and tries to apply them later. In the problem-centered-group the procedure is otherwise. It is from the specific to the general—from facts to words rather than from words to facts. The question is not which method is the right one, but rather how to combine them in various ways.

Repressed and regimented children, put through a lopsided educational mill, can be receptive some day to authoritarianism based on an omnipotent leader. Democratic education will develop social beings capable of participating in the ongoing process of democracy.

Participation in Art and Leisure

Much of our artistic enjoyment and leisure tends to be passive We go to the movies, to the theater, or to a football

ACTIVE GROUP RECREATION VERSUS PASSIVE RECREATION



game and are nothing but spectators. As Jay B. Nash said: "The average man who has time on his hands turns out to be a spectator, a watcher of somebody else, merely because that is the easiest thing. He becomes a victim of spectatoritis—a blanket description to cover all kinds of passive amusement, an entering into the handiest activity merely to escape boredom."

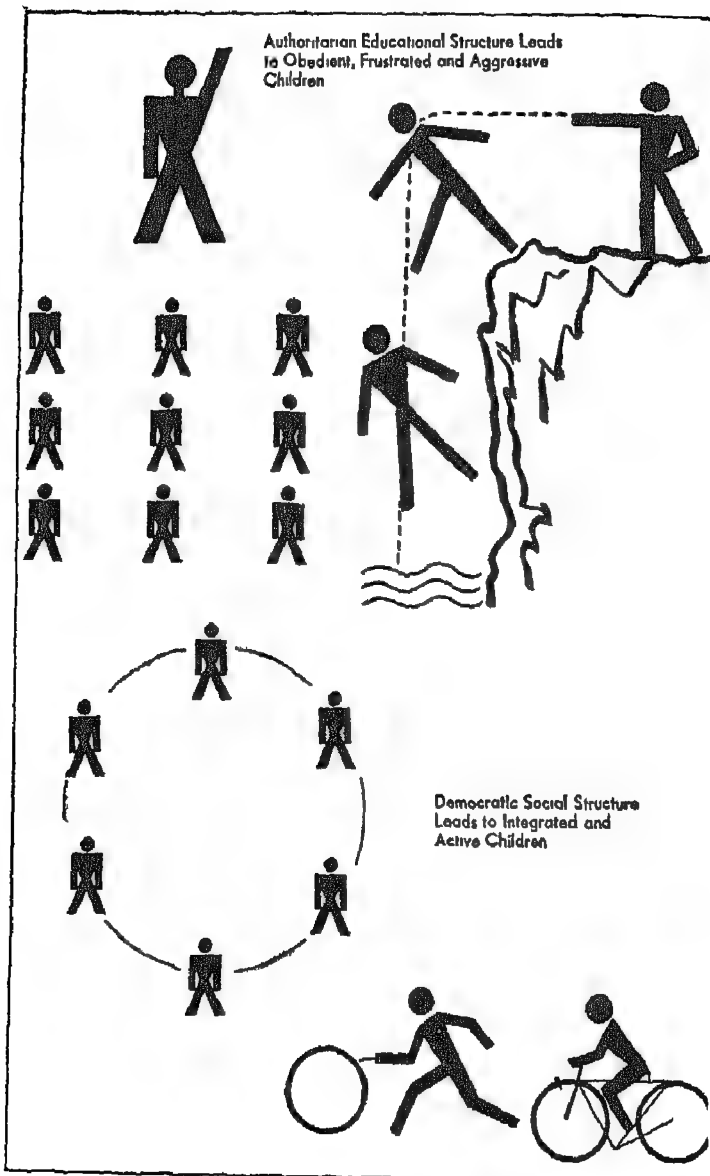
The joy that comes of participation and self-expression is much greater than sitting back and watching Thus we need to promote activities wherein the people are actively participating rather than just passively observant.

One way of doing this is through the promotion of community art centers, where participation is possible for all. Such community art centers have recreational as well as therapeutic effects Considerable advance has been made in this direction by the community art projects of the former W.P.A. The W.P.A. artists were in many instances the leaders and teachers of all sorts of local art groups. Schools, settlement houses and other institutions have cooperated. In these creative workshops artists are working with citizens in a variety of arts and crafts: life drawing, painting, etching, wood carving, sculpture, drafting, machine craft, posters, photography, and so forth. It is important that such community art centers should be extended and become a permanent feature of American life.

One of the greatest problems of modern civilization is loneliness. Loneliness is partly due to the fact that leisure is not used creatively, that the leisure time becomes a period of lostness. The working day has been shortened, due to technological and social changes which have greatly accelerated in the past generation Leisure we have—we need to learn to use it creatively. For it can be destructive, or it can be a means of building physical, mental stamina, of generating power and inspiration.

Situations must be created where people come together

GRAPHIC SUMMARY OF CHAPTER 6



in creative relationships Much of this is already done. Folk dancing, choral singing, hobby groups, discussion groups, and so forth, bring people together. These small groups have as their aim "pure togetherness," without reference to action. In such groups the "center" is a common interest rather than a common problem. The problem-centered-group is interested in action, it is a means toward an end. The interest-centered-group is an end in itself: the enjoyment of being together and participating in some creative leisure activity.

I know of an interest-centered-group which got together every week. The common interest was the enjoyment of music. While this is in a sense passive, the group being small and informal had a significant effect on those who came. The mere fact that music is a nonverbal language tends to bring about relaxation more than do words. It breaks down psychological barriers to responsiveness. The feeling of belongingness was the important feature of this group. One of the persons, who came regularly, remarked that this group was the first thing he ever belonged to. Another, a girl who was a retiring sort of a person, is a somewhat more active person since she joined the group.

Such groups give a feeling of belongingness—they combat disintegration. There are numerous people who hunger for companionship, and who would be glad to participate in art and leisure groups Such groups need to be encouraged inside churches, homes, libraries, museums, art centers, schools, and settlement houses.

Chapter 7

JOURNALISM

PARTICIPATION IN JOURNALISM

The best way to show the application of the problem-centered-group method in the field of journalism is to give a brief account of a publication, *Millar's Chicago Letter*, which has used the problem-centered-method in its operation. This weekly paper has been called by a professor of the Medill School of Journalism, "the most important thing journalistically that has happened in Chicago in ten years."

M.C L. has a changed concept of news. The daily newspaper recognizes the news value of discord and conflict. Divorce is more news than marriage; crime is more news than law observance; war is more news than peace. In general, that which is negative and destructive is more news than that which is positive and constructive. M.C L. seeks to emphasize that which is integrating and creative. It takes the point of view that co-operation is more noteworthy than discord and relationships deserve more emphasis than isolated events. Thus M.C L is pioneering in a journalism of integration, with emphasis on that which relates and builds, rather than on that which tears society apart

A positive, creative, and constructive news policy brings involvement in activity, instead of watching the parade go by, the editor has to get in it himself through his publication. As M C L. sees it, news is not something that you watch and tell about, but a stream of living existence in

which, willy-nilly, you are carried along. In fact it says: "We are in the middle of a stream of events. We do not kid ourselves or others by pretending that we are merely on the bank watching the stream flow by, in judicious detachment."

The *Letter* aims to get away from the orthodox mountaintop relationship to its readers, one in which the publication speaks with detached wisdom and expects the public to welcome and absorb its utterances. Random participation by readers is relatively easy. They can make detached suggestions, provide information, write letters to the editor, or otherwise contribute in miscellaneous ways. What is of primary importance, however, is not passing comment on this or that detached subject, but the structure of the publication as a whole. M.C.L. does away with the term "reader" or "subscriber" and uses the term "member." To make possible more than just advice, M C.L., applying the problem-centered-group method, formed advisory committees around specific issues. Thus creative participation of specifically qualified persons in the planning and writing of an issue was made possible.

When newspapers became big business, following the trend of the times, they became mechanized and standardized. Newspapers and magazines acquired the similarity of cigarettes and drugstores; they differ only slightly in New York and Los Angeles. World War I and the depression changed journalism by striking bitter blows at our complacency and comfort Besides wanting to know *What* was happening nationally and internationally, we wanted to know *Why* it was happening. This demand for clarification brought about interpretative journalism. In turn, this produced news commentators, columnists, news letters, editorial emphasis, and more detailed analysis of national and international affairs.

M.C.L. goes further than this kind of journalism. It is

not only interested in *Why* (which looks backward) but also in *How* (which looks forward). By paying attention to *How* questions, newspapers are able to become more than sideline commentators. *Obviously this kind of journalism cannot replace the daily with a million circulation, but it is badly needed as a supplement.* It will be especially feasible in communities and around specific problems. The trend toward bigness in journalism has curtailed the influence of local journalism. But until journalism recognizes the importance of local publications, which demonstrate the relations between local problems and national ones, and the possibility of concrete action, we will continue to think in vague terms about remote problems which are beyond our immediate reach. Thus, feeling our own impotence, our powers to take intelligent action will be impeded Consequently we need journalism, which will have its part in building integration, bringing people together, and providing ways and means of local action.

Such journalism focuses attention on problems, rather than on subjects. A subject is usually something you talk about, a problem is something you are trying to solve M.C.L. is concerned with problems it deals with the civil service problem, the transportation problem, the syphilis problem and so forth

The Structure of M C.L.

Let us see more specifically how M C.L. goes about getting out an issue. Having found a problem for exploration, the editor proceeds as follows. (a) talks the problem over with a number of interested persons in a group meeting, (b) follows up with individual interviews, exploring the problem and its ramifications more intensively; (c) checks the literature in the field, (d) writes a tentative manuscript, (e) circulates this manuscript among various

specialists on the problem involved, and some thoughtful "generalists," inviting suggestions, criticism and comment; (f) discusses with a few key persons how to integrate this added material into the final manuscript, (g) prints the final copy and sends it to all regular members, (h) seeks special circulation among persons and organizations especially concerned with the problem discussed in the particular issue. Of course, in this imperfect world, not all this is done with every issue, but most of it is done. These procedures appeal to civic leaders, for the finest sort of cooperation was received by M.C L.

This is the problem-centered-group method in operation in the field of journalism, involving the participation of interested persons who are the ones who will help to carry out the suggestions that have been made M.C.L. helps them to crystallize their thoughts by putting them into print, in words, pictures and maps. The editor is a participant-leader, he makes the framework of the manuscript and sets in motion the process of participation. Suggestions become more specific when there is a frame on which to "hang" them. They become related to a theme, instead of being detached remarks *Submitting tentative manuscripts to persons who can help to turn ideas into action is a technique for thinking-writing-acting.* Moreover, these persons feel a sense of belongingness and get creative satisfaction that comes from significant participation. At the same time the final manuscript will be more complete and integrated than a manuscript would be if it were produced without consultation.

A few illustrations of how M.C L. brought people together into problem-centered-groups will be illuminating An issue dealing with handicapped children (there are some 80,000 in Illinois) has brought about active participation of some forty of Chicago's leaders in government and social service on three specific problems of handicapped

children. In the production of an issue on vocational guidance, the editor attended only one meeting. He merely created a situation in which a group of competent persons visualized clearly an important problem within their range of interest. The rest happened naturally.

The issue on syphilis, which a leading professor at the University of Illinois School of Medicine calls: "the best thing on a medical subject that I've ever seen written by a layman," started with a letter to some forty persons asking three pungent questions suggested by an individual thoroughly grounded in the Chicago syphilis situation. Some twenty replies were received. Interviews followed. A manuscript was drafted, ending with certain proposals for "Suggested Action Now." These proposals were submitted to a group of experts at a luncheon one Saturday noon. They chewed on them until three o'clock, modifying them and adding to them. Finally they reached a consensus, which M.C.L. subsequently published.

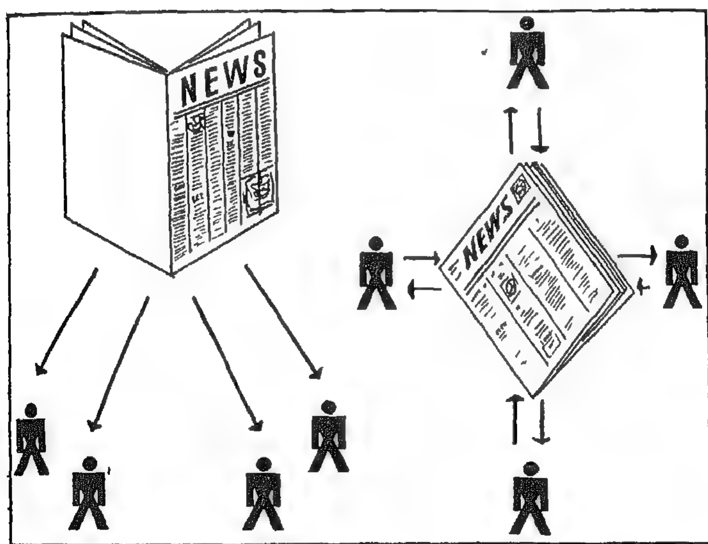
Note the deliberate effort made in this case to involve persons who could influence subsequent action. If persons who have power to act take part in evolving the thinking that precedes action, then the gap between thinking and action narrows. It would have been a mistake not to involve in the making of the manuscript persons who might do something about the recommended action.

It is difficult, of course, to check the results of this process. In this case the author of the Illinois premarital examination law was among those present, and concurred in a conclusion reached by the group that the administration of the law might be improved. A few weeks later, the legislature made certain changes in the law in order to make it work better. Maybe this was just a coincidence, maybe not. Anyway, the more persons with power to act are involved in thinking through practical problems, the more such "coincidences" there will be.

We have seen that newspapers can make a deliberate effort to shift the position of the writer or editor from that of a sideline spectator of the stream of events, to that of the operator of a small craft right out in the stream. Such journalism means a shift from exhortation to participation, from talk-democracy to do-democracy.

This volume itself is the result of the participation of many persons. It is not the product of a mind who has thought about democracy in an ivory tower; it is the fruit of many discussions between a number of persons with various backgrounds. Tentative manuscripts have been

GRAPHIC SUMMARY OF CHAPTER 7



circulated for criticism and comment. Social workers, educators, housewives, businessmen, professors, government officials, and many others have made contributions. Thus this volume is intended to be more than just a book by an author, it is intended to be the synthesis of many persons' ideas and experiences.

As in the case of M.C.L. the framework of the manuscript has been worked out by one person whose name appears on the title page. The framework included the main themes of the book. This volume attempts to imitate the structure of a symphony: it is based on themes and variations on themes. Some of these themes are. do-democracy versus talk-democracy, participation, necessity of the feeling of belongingness, facing problems together, dealing with specific problems rather than general ones. Variations are introduced when these themes are discussed in various chapters. This symphonic structure accounts for the apparent repetitions in this book These "repetitions" are done deliberately; they are not repetitions, but variations on themes.

Moreover, this volume is the by-product of action. While it was being written, the method was being applied in a variety of actual situations. Thus the book hopes to combine theory and practice.

But not only is this volume a product of the working together of the author and those who collaborated. Actually there is another person involved *you*. Unless this book becomes a means of interchange of ideas and experiences between the two of us, none of us will gain much. You will have to bring to bear your experience and knowledge upon the ideas here expressed in order that you may see how it affects your problems and your activities

Chapter 8

EMPLOYMENT AND VOCATIONAL TRAINING

Group Self-Help

Social work started out as a kind of benevolent paternalism, with a "poor fellow, isn't that too bad?" attitude, and a dime or a bowl of soup as its method With the development of professional social workers and the changed attitude toward unemployed and disabled, a new conception of social work has succeeded the old smug condescension. A real effort to help maladjusted and handicapped personalities find their own niches of usefulness and self-sufficiency is the ideal of social work today. In order to be most effective the social worker should not be an outsider who dispenses relief. Obviously, in many cases people are so dependent that they have to be cared for by others. But in numerous instances, the social worker can be a stimulator, a participant-leader. He or she can help people to do or get certain things they need.

The problem of unemployment, so acute several years ago and perhaps soon to be with us again, has been replaced by the problem of the employer seeking help to carry on his business and the worker seeking the job where he can be of greatest service to the war effort. This is calling into the working world whole new groups hitherto classed as unemployable who need the understanding services of the social worker in adjusting to the changed situation.

Unemployment and employment, as most of us see them, are primarily economic problems. Suppose we were to

look at them primarily, as psychological problems. Some things we have been doing would have to be stopped. Some things we have not been doing, to help and encourage the potential worker, would have to be started.

Such a changed point of view means shifting attention from money to men, not man in the abstract but real living men, every one of whom is different from every other, with different latent powers, different personal background, and different problems. A system of vocational guidance or relief administration which confines its attention to administrative and financial routines is inadequate no matter how efficient the administration is or how much money there is We need to work together resourcefully for relief from relief, doing things that release inhibitions, overcome fears, and enable all of us to get more of those fundamental human values we crave so deeply.

In attempting to deal with such a problem as unemployment—or in the present war emergency not so much with the problem of getting jobs for the unemployed which are plenty but of getting them those for which they are best fitted, and shifting men to vital jobs—we wander around looking for help as if we thought that the powers which could meet our needs and solve our problems were somewhere outside. Such is not the case, power is within. Our problem is one of generating and releasing this power, of helping ourselves, not of finding some outside power line to tap.

Traditionally, our self-help spirit is self-centered. The individual goes his way, by himself, for himself. Hence he encounters increasing difficulties as the world gets more complex, more mechanized, and more urban. Under such conditions it behooves us to consider how we can keep the spirit of self-help, and adjust it to the largeness of modern living. This means shifting the emphasis from individualistic to group self-help. New dynamics generate

when persons who are discouraged and alone find ways to work together for mutual benefit.

Bringing the problem down to terms of our own experience, we can all find a way to help solve the manpower problem in our own communities. Anyone with an interest in young people which goes deeper than a gruff interview with daughter's caller can create a situation leading to action by making available the informal atmosphere of his home to a group which has the job problem in common. Some man, perhaps an employer, who has learned from experience some helpful ideas, about which he is willing to talk informally, is a stimulating factor in such a meeting. The average man will walk miles for a chance to give advice, especially if it gives him a chance to tell the story of his life. If his enthusiasm for his subject carries him too far, you can ask him to turn on the radio, and let the young people dance.

The young people will, with a little urging, talk about their common problems, of which the job problem is one. Tips will pass from one person to another, suggestions will be made by the employer present. Monday evening is an excellent choice for these informal open houses, as it is the first working day of the week. There will be five days in the week to act upon suggestions or inspiration received.

Such Monday evening open houses can be sponsored by numerous citizens. This proposed plan is simple, informal, and direct. It recognizes two prime needs of young people; a satisfying job and companionship. What one group does, on one Monday evening, may not seem important, but if you keep such meetings up, others will follow your example, and the effect will be far-reaching.

An example of a more systematic group self-help is the Man Marketing Clinic at the DePaul University in Chicago. Graduates of any college may participate. The procedure is quite informal. Each individual presents his problem to

the group and gets such counsel and advice as those present can give. Problems are real ones, advice is practical. A young accountant reads a draft of a letter he has composed, asking for an employment interview. The group tells him, among other things, that he has used the word "I" far too often. A chemical engineer describes his particular interests and qualifications. Others present suggest the particular company where he should seek employment, and how to contact such concerns and whom to see And so on. The spirit is one of helping others to help themselves, the pooling of experiences on problems of particular individuals.

The results are constructive. (a) Job seekers develop better morale, more confidence in their own ability; (b) they learn how to dig out their own assets, how to sell their services; (c) they get from each other good ideas and suggestions as to how to avoid mistakes, (d) they learn to view themselves more objectively, as others see them, (e) many are helped to plan their lives better and carry out their plans; (f) those who follow the principles developed in the Man Marketing Clinic are more likely to get the jobs they want

Ways and means of group self-help, of which this clinic is an example, need to be sought and used more than they are now. Frank discussion of mutual problems by members of such groups builds confidence, removes inhibitions, and generates new power. The personal and intimate atmosphere of such job hunting is much more satisfactory than the informal and impersonal procedures of employment agencies. One small group, to be sure, does not make much of a dent on the gigantic manpower problem we are faced with, but it helps a bit Moreover, group action is contagious. For example, the Man Marketing Clinic is not DePaul University's idea It developed in New York in 1935, where it has helped salesmen, school-

teachers, stenographers, commercial artists, sales and advertising managers, and many others.

Another project in group self-help was started in Boston by the Men Over Forty Club, and has spread all over the country. What one place does that's worth doing, others copy. The president of the Men Over Forty Club sums up the aims of his organization by stating. "We proceed as if there were no jobs, but there were any number of business problems to be solved, and human needs to be met It is problems and needs that we look for. We get our heads together to figure out how to meet them. We determine in each case which of our members is best qualified to render service." In view of the critical manpower situation today due to the drafting of younger men, the importance of men over forty finding the right jobs cannot be stressed enough.

To start with problems and needs, and to co-operate with others in finding ways to meet them, is practical, democratic, and efficient. It is the natural procedure for groups of people who have problems, needs, and interests in common, to get together and help themselves.

Vocational Training

The number of jobs is not constant, but variable. The new demands which the war is making of our workers is an illustration of changing needs. The promptness and efficiency with which training is adjusted to changed needs is important. The task is to channel into new jobs men who are qualified to fill them, which can be done to some extent by the group self-help method described above, and to train or retrain men when fully qualified individuals do not exist in large enough numbers.

Retraining is necessary for those whose old jobs have disappeared through technological changes, or for some

other reason, like the present war. Men who are discouraged and hopeless because the jobs they once had have vanished, can be given new hope, courage, and power by the right kind of retraining.

For those who need to develop new skills, opportunity schools might be established. Denver did this by putting to new use an old elementary school in a downtown area from which families with children have departed. How training or retraining for jobs is conducted by this opportunity school is illustrated by a course on stokers. The method involved in this example is applicable to the training for other jobs, which today are more vital.

Eighteen different makes of residential stokers are on sale in Denver. Two or three inquiries from people who wanted to be trained for posts in the stoker business suggested that there might be potential jobs there. One of the four opportunity school co-ordinators—full-time liaison agents between school and work in Denver—got busy. He interviewed every firm in the stoker business. He found out how many and what kind of people they were employing, and what kind of workers they needed. He learned that potential sales and service jobs existed, which might be filled if specific training to fit people for them were provided. In co-operation with the Denver representatives of the stoker industry, courses of instruction were worked out.

Sixty-two persons enrolled in the first class. The majority were employees of the eighteen firms who wanted to advance themselves, and so wanted training to do more valuable work. As they were promoted, newcomers were needed to fill the jobs they had held. Such newcomers were in training too. Six of them found jobs in the first month.

This is not spectacular, but it comes close to being the way men are made for jobs in numerous fields of indus-

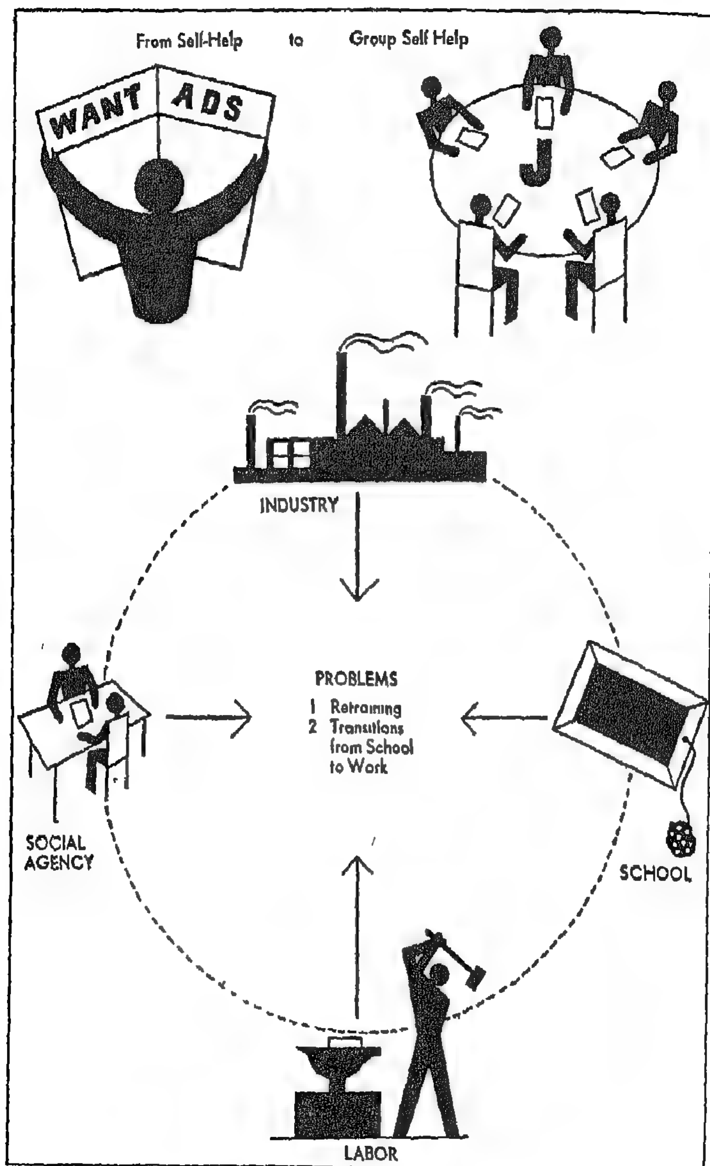
try; not wholesale, but one by one. This procedure is not haphazard, but carefully planned with the co-operation of trade unions and employers, under the leadership of the Emily Griffith Opportunity School. Similar co-operative arrangements exist with numerous other crafts and industries, carpenters, bricklayers, sheetmetal workers, painters and decorators, steamfitters, electricians and many others.

It takes time, patience, and energy to make the continuous checkups necessary to keep training everlastingly in tune with changing needs In the Denver opportunity school the process is one of finding out what types of training are needed, of calling in, as advisers and planners, persons in business, professions, and labor who have first hand knowledge of meeting the needs, and then going to it. This is the way the problem-centered-group works; its application should be extended widely. Given four-way co-operation between schools, business, labor and social work, an integrated training program can be worked out in other cities and communities There are a large number of potential jobs throughout the country which can be turned into actualities if more persons are rightly trained for them. This is especially true today in the war emergency.

Vocational training is needed, not only in connection with training and retraining, but also to improve the system of moving youth from school to work. When life was simpler, youth had many chances to learn by watching and helping. Today, when life is so complex and there is so much to know and understand, the opportunities for youth to learn by the natural methods of watching and helping is restricted

The traditional haphazard method of moving young people from school to work needs to evolve into some-

GRAPHIC SUMMARY OF CHAPTER 8



thing much better. A gradual transition, rather than an abrupt plunge, is needed. Can we make the end of school more like the beginning of work, and the beginning of work more like the continuation of education? If so, we may someday advance to the point where it is impossible to say where one ends and the other begins. This would be a good thing. For the time being we might extend educational curriculum into the field of work, through the establishment, in many lines of work, of apprenticeships, internships, and cadetships, perhaps on some partial-pay basis along an alternating work and study plan. Such training will lower the barriers between school and work experience.

Here again, a program intended to reach this aim must evolve through the co-operation of business, labor, and schools. Through the application of the problem-centered-group method, advisory committees of employers, labor representatives, and the public, on the problem of transition from school to work, can help the school to work out satisfactory arrangements.

Labor, education, business and social work must assume responsibility for retraining and training, and insist that the oncoming generation of youth be given a chance to learn work habits while in school. No program for these purposes will be accepted by all those who must accept it to make it effective, unless they also participate in evolving it That which a local branch of the American Association of Social Workers works out by itself, no matter how good, will not be accepted by education, business, and labor. That which a local association of commerce works out by itself, no matter how good, will not be accepted by social workers, teachers, and labor officials, and so forth.

We often try to impose general remedies. This method

fails because it is not practical. Jobs and trained workers are made one at a time. *If enough of us work simultaneously and co-operatively on specific problems of training, retraining, and apprentice training, after awhile the sum total of our accomplishments will be substantial.*

Chapter 9

INDUSTRY

Human Relations in Industry

Today, more than ever, increased industrial output and efficiency are necessities The achievement of them is not purely a technological problem. Industry is made up of human beings as well as machines, and no one will deny that technological equipment is by no means the only requisite of effective production. Improved industrial efficiency is partly a result of satisfying human relationships within industrial and business firms. Ineffective organizational structure impedes maximum human effort, creates dissatisfaction which leads to less than capacity production, even though it does not manifest itself in such overt symptoms as strikes. Obviously, human relationship in business and industry is not a sideline issue.

For some time there has been a growing interest in the field of personnel, resulting in the establishment of personnel departments and the training of men to head them. As this interest has grown, it has been realized that problems of labor relations are to a great extent problems of dealing understandingly with human beings. At the turn of the century what is now called "personnel administration" began to assume the proportions of a field of study in human engineering. At first physical fatigue was studied and plans were made for its reduction. In the last years, however, the period, which is often called the "social concept" stage, began to predominate in the field of personnel administration. In this period the stress is on human relations between workers and managers.

The most extensive study of the psychological aspects of management-employee relations in an industrial concern, was made at the Hawthorne plant of the Western Electric Company. The story of this twelve year program of industrial research, which started as engineering and ended up as sociology, has been written by F. J Roethlisberger and William J. Dickson, with the assistance and collaboration of Harold A. Wright. The study was published by the Harvard University Press, in 1939, under the title: *Management and the Worker.*

The project began as an industrial engineering study to find out what degree of lighting would enable workers to do the most and best work. One would think that, given the willingness to try different lighting intensities one after another, the best would be found. This is what the Western Electric management thought too. They failed. What they found was that, compared with the many variables which combine to make up the total situation of the worker and his job, intensity of illumination is of minor importance The effect of illumination, as such, could not be determined. True enough, a worker might grumble about the light. But is that his real trouble? Maybe he grumbles about the light because it is convenient to grumble about, whereas his real trouble is the grievance he is nursing against a supervisor about which he cannot publicly grumble.

And so the study flowed on to another and more significant stage, in which problems of psychology and sociology were increasingly in evidence. Somewhere about this time a Western Electric official, at a banquet in New York, got into conversation with Elton Mayo, the distinguished industrial psychologist and sociologist of Harvard. Mayo was interested. Before long, he brought Harvard into the picture; eventually he became the inspiring genius of the project.

There followed in 1929, 1930, and 1931 a tremendous interviewing program to let employees get off their chest whatever was burdening them. In three years there were about 20,000 interviews with both men and women, averaging close to one and a half hours each. Interviewers made written reports of each—many as long as ten single-spaced typewritten pages Out of the analysis of these reports came conclusions affecting the whole organization. Thousands of employee suggestions were acted upon.

Management and the Worker reports how group organization can release and generate latent powers inside an industrial plant. When a small group of human beings were freed from imposed supervision, gradually there was a release of tension The group became more spontaneous. There began to develop rapport, friendship, social life, and group solidarity. The last paragraph of Chapter VIII says. "What impressed management most, however, were the stores of latent energy and productive co-operation which clearly could be obtained from a working force under the right conditions. And among the factors making these conditions the attitudes of the employees stood out as being of predominant importance."

This study indicates that informal organization among employees has great strength. It reveals widespread fear and repression among workers who are under an authoritarian line supervision. It frequently comments on the failure of the line system to feed information up to the management as effectively as it feeds orders down.

The Application of the Problem-Centered-Group in Industry

Employer and employee co-operation is not a new thing The application of the method here proposed, is a way of increasing co-operation. It might not be able to

settle strikes, but it will be of some help in preventing them; it might not transform a firm overnight into an efficient and smooth-running organization, producing at top capacity, but it will improve the relations within the firm considerably.

Whether we face the problems of wartime production or peacetime production, we need to bring labor and business together in those types of associations which will reveal joint interest between them. We pay too much attention to those points between labor and business which are controversial, and thus attempts to co-operate break down in the beginning. *However, if business and labor start working on problems which are not very controversial, they will learn to work together by getting into the habit of co-operation, and so become better able to solve the more difficult and controversial capital-labor problems on which there is now wide disagreement.* Co-operation breeds co-operation. Thus the first step is to concentrate on specific problems on which labor and management can work together.

Every firm has a vast number of problems. Large problems are clusters of smaller ones, smaller ones, in turn, consist of sub-problems. It is the management's responsibility to get these problems solved At present employees participate, but only to a limited extent, and often in haphazard ways. Many times problems are dealt with by the action of the management, with minimum participation on the part of the workers. In order to find out the real nature of the problem, and how to deal with it, employee participation must be improved. *By discussing a problem with the workers, the management has a chance to utilize the vast amount of information and experience that exists among the employees.* After all, they are closer to the scene of action and in a way more acquainted with the actual needs and problems of their work.

With the aim of integrating employee participation with what management thinks and does as well as organizing it more effectively, one of the largest firms in the United States experimented with the problem-centered-group method

The first step was to find the precise nature of problems. "Talking it over with the employees" is a more or less accepted practice. Individual employees have been consulted and questionnaires have been submitted in many firms, in order to find out what the majority thinks. This usually means, not real participation, but Yes or No. Employers have also extensively used various suggestion systems. In spite of the fact that, for instance, Westinghouse Electric & Manufacturing Co. made $250,000 in six months as a result of workers' ideas, suggestion systems according to a New York *Times* article of August 23, 1942, have been a failure. "Records show that nearly 95 percent of the merit plan awards that have been installed have decayed gradually, generally after auspicious starts."

Group interviews are a device for real participation, for extended consultation around specific problems The principles of group interviewing, as practiced within various plants of the firm where the problem-centered-group method was applied, are the following:

1. Group interviewing is useful to explore a "problem-area," breaking vague general problems into specific parts.

2. Group interviewing is useful to crystallize the thinking of a large number of people. It is a technique for gradually arriving at a consensus. Whereas a one time Yes or No vote tends to fix and sharpen disagreement, a series of group interviews, day after day, threshing a given problem over and over, tends toward the creation of a common agreement.

3. Group interviews should be informal, relaxed, and unhurried. They must not be held at a time and place

where participants will be worrying about how their work is piling up while they are sitting and talking.

4 It is best to meet around a round-table. In this way each participant's position is equal to that of the others. There is no "head" and no "foot" to a round-table, no place that symbolizes "authority."

5 Five or six employees are about right for one group, in addition to the person who conducts the meeting. At times one or two supervisors may sit in also. There should be, however, more "privates" than "officers." Better to have more groups than too big ones.

6. It is well for the person conducting group interviews to ask questions that bring out and clarify specific parts of a big problem or specific problems Complex problems lead to general talk. Compound questions get confounded answers. Well-defined problems and questions lead to well-defined comments and answers.

7. Care is needed to stimulate the timid to talk Only the timid can express the idea of the timid. These may be more representative of the majority than the easily obtained ideas of the free talkers.

8. The effectiveness of the method of group interviewing, as against individual consultation or large group voting, lies in the interaction of the minds of individuals within groups of small size. Partial ideas unite into whole ones Erroneous factors in the thinking of individuals tend to cancel out, as opinions bounce from mind to mind.

9. The more persons who participate in forming a judgment, the more there will be who will accept the judgment tolerantly when it is put into effect

10. Even when a satisfactory consensus has been reached from a series of group interviews, it may be well to continue the meetings until everyone in a given department has taken part. This enlarges acceptance and simplifies the carrying out of the common decision.

11. Group interviewing has to be approached open-mindedly, expecting that employees will have ideas of value to offer. Even if such were not the case the method would have genuine employee relation value in the recognition it gives to the individual employee and his personal views.

12 Group interviewing should be co-ordinated with individual interviewing. Frequently a group interview will reveal tension and frustration in some individual A personal interview with that individual can then follow.

To illustrate the effectiveness of the group-interview method, consider, for instance, the problem of rest periods. Most employees in a plant had ten-minute rest periods morning and afternoon. Sometimes, however, the work in a given department is so unbalanced that the standard rest period arrangement does not fit the particular situation. The group-interviewing method is especially useful for adjusting standard procedures to special situations. In Chicago, you get a Chicago answer, in Philadelphia, a Philadelphia answer, in Department 145, a Department 145 answer, in Department 35, a Department 35 answer.

In one department 75 girls were working 6 hours in the morning, and only an hour or two in the afternoon. Yet they had the standard rest period arrangement—10 minutes mornings and afternoons When it was put to them, through a series of group interviews extending over several days, they decided to have one 20-minute period in the morning. To the management's surprise, however, they declined to have their lunch hour advanced. They liked the short afternoon more than they disliked the long morning.

In another case, 50 girls in a similar department, consulted through group interviews, evolved a different plan, which suited their particular situation better. They spread their 100 minutes a week of rest period time as follows:

15 minutes each morning, 10 minutes in the afternoons of the two or three days when they worked longer. In another city, a department of 60 persons working a short morning and long afternoon, decided to try out two plans: a 20-minute period in the afternoon only; and a 5-minute period in the morning, and a 15-minute one in the afternoon. They liked the first arrangement so well that they never tried the second.

The solutions of problems which are brought out in group interviews may in some cases be about the same as would be reached by the usual method of executive decision. In some cases, there will be delay in dealing with rather obvious problems. *But in most cases, the fusion of thinking and experience of the managers and employees will result in better solutions.* In the case of the above rest-period problem the management would have made a mistake if, without interviewing the girls, they had made a blanket rule for rest periods. Here the group-interview technique enabled the management to get the attitudes of the workers, and by integrating the employers' and employees' attitudes, a more satisfactory solution was reached. Since the wishes of the employees were considered and not ignored, the resulting decision was stronger and more lasting than if, instead of employee and employer co-operation, either had imposed on the other.

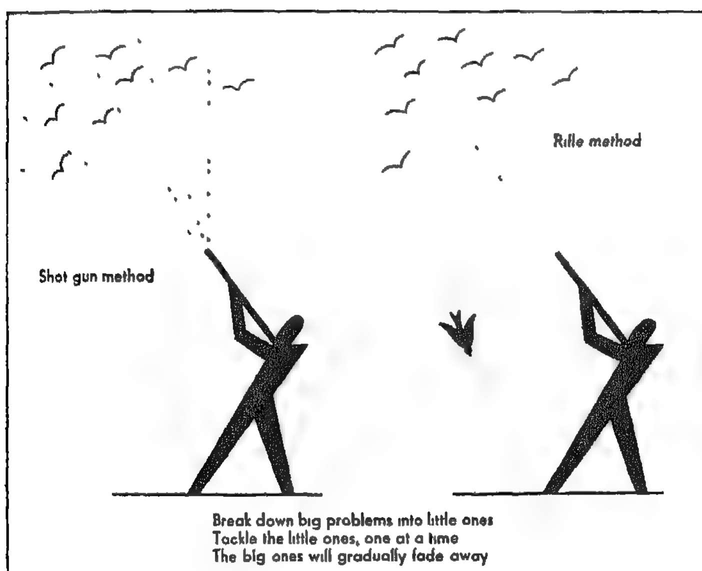
The group-interview technique is not only useful in creating a consensus by a large number of people on a particular problem, but also in breaking big problems into smaller specific ones. We have seen all through this volume that apparent problems are often "problem areas," which have to be broken down into specific problems so that they can be dealt with.

Even problems that seem simple enough, when first looked at, have a habit of turning out to be tangled clusters of problems. One interesting case of this sort was the

gift problem. For three weeks the girls were interviewed in bunches of five, trying to see if they could solve once for all the problem that arises when employees take up collections for this or that purpose, gifts for marriages, anniversaries, departures, flowers for funerals, and so forth.

PROBLEM SOLVING IS LIKE DUCK SHOOTING .

Problem Solving is Like Shooting Ducks You Don't Shoot at the Whole Flock at Once Instead, Try Hard to Pick Off One After Another



For a week or more, while the first fifteen or twenty groups of girls were interviewed, a lot of floundering occurred. And then the truth began to dawn. What was labeled as the "gift problem" was not a problem at all, but several Birthday gifts were one thing, flowers for funeral and sickness another, gifts for special occasions such as marriage are still another. What the employees told in the group interviews, after thinking began to

crystallize, was simply this: Different arrangements should be made to handle different sorts of gift-fund problems. As the problem was broken down, the solution became simple.

Work flows. Whatever blocks or interrupts the flow hampers the workers. These blockages are clues to problems As many as 35 interferences have been recorded from a single group in an hour In one case, 25 clerks, listed 65 separate interferences in their department. No wonder their work had bogged down. Group interviews are a device to locate interferences, which then can be dealt with by the problem-centered-group method

It is not always necessary to organize group interviews in order to find and define a problem. The problem-centered-group method is a way of dealing directly with real problems. Such groups, wherein the managers as well as the workers participate, can be built within the framework of line and staff organizations.

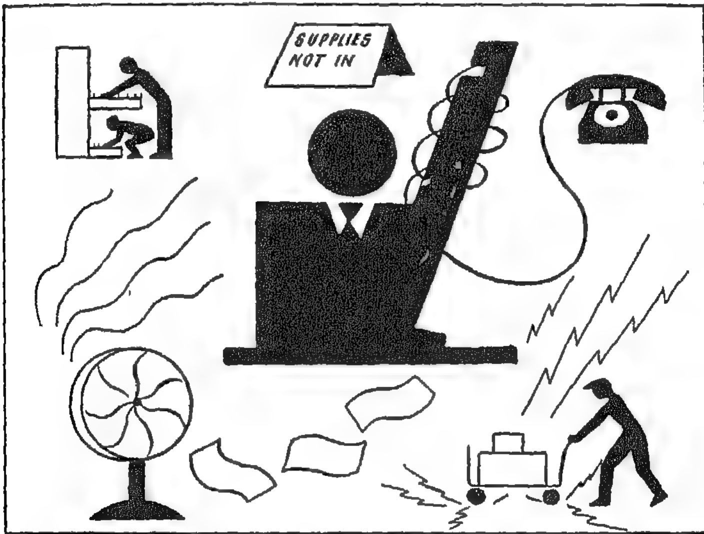
It is generally assumed that a business with one man giving orders is much more efficient than when many persons decide what to do Often the same argument is used in favor of dictatorship, where one-man rule makes for efficiency, as against democracy where there is a lot of discussion and argument. But, in reality no business can be run by one man, for no human being knows everything there is to know, and no human being is always right.

A business that takes in 95 percent of its costs "almost" makes a profit But, unless it does better than "almost," it will go bankrupt The difference between 95 percent and 105 percent is the difference between life and death in business Similarly, a one-man solution to a ten-men problem may be 95 percent—almost—right. All that the other nine will add, when given a chance, may be only 10 percent more But what a difference that last 10 percent makes! Furthermore, the one-man solution often meets

resistance from some of the nine. The ten-men solution will get acceptance from all ten.

To achieve the highest possible efficiency, the solution of problems has to be put up to a small group of persons directly concerned, those who have a real knowledge of the problem, including both managers and employees. Thus, if the problem has to do with arrangement of office equipment, those who use the equipment and those who

WHAT INTERFERES WITH YOUR WORK?



supervise its use should counsel together in deciding where and how to place it If the problem concerns the design of shipping containers, those who personally fill and move such containers will have a part in wrestling with the problem. Conferences must be informal, and be held as near as possible to the scene of operations where the problem lies. This is a reversal of the traditional practice that conferences shall be held in the office of the highest

ranking executive participating. Often the highest official is the one farthest removed from the actual scene of the problem

In order to attain the maximum effectiveness, care has to be taken that all the main interests are represented in the group. The situation that the problem-centered-group creates, will stimulate the members to concern themselves with the specific problem under consideration, and contribute from the point of view of their position or work to the formulation and solution of the problem involved. Such problem-centered-group meeting is more effective than the usual meeting between labor and business where the workers' representative sits on one side of a table, and the businessmen's representative on the other, emphasizing the divergent claims and conflicts, and thus creating a situation that is full of tension and opposition.

The problem-centered-group is not a standing committee. It starts with a living problem rather than a written statement The nature of the problem determines the time, place, personnel, activities and longevity of the group. One of the most important things about these groups is that they are temporary. Each group has a job to do. It keeps at it until it is done. These groups come and go They appear when and where problems exist. They disappear as the problems are solved. In some cases a problem may be solved in one or two meetings, in others a group may have to work with a problem for a period of weeks or months. To apply the method inside an industrial plant does not mean setting up a lot of fixed employee committees On the contrary, it means changing the nature of the group constantly If it takes only an hour to solve one problem, then the group will have a life of an hour After the session is over, what remains is not only a solved problem, but also improved human relations that result from increased co-operation.

The following are a few specific examples of the workings of the problem-centered-group in the firm in which it has been applied:

Five girls in a department used a certain type of truck for order-picking. The manager knew the truck was not right. He called in the girls one at a time to ask for suggestions. They were reticent and shy, as employees often are in the boss's office. They did, however, suggest five ways to improve the truck.

Then the manager decided to try the problem-centered-group method He brought the same girls together all at once and said· "You know more about this truck than anyone else. You work with it every day. Why don't you get your heads together and figure out how to make it really right? Let's have the best possible kind of a truck to do your work—the kind you would build if you were running this department yourselves." He then walked out, leaving it up to them. They developed, not five, but fourteen suggested changes in the truck. The methods division reviewed and refined their ideas. The improved truck was put in use. Manager, methods division, and the workers are all happy about it.

A department manager faced the problem of rearranging the seating of twelve girls in an office. He put it up to the girls concerned For forty-five minutes they counseled together. They worked the problem out. The manager was glad to accept their recommendation. "The concessions they made to each other were surprising," he said. "If I had ordered them to do what they decided to do of their own accord, I'd have had a hornet's nest on my hands."

A group of nine persons, in another department, tackled a war emergency problem: conserving wrapping supplies. For five weeks they worked, both as individuals and as a group. They found within their own department a number

of new uses for paper, cardboard boxes, tubes, etc., previously thrown away to be baled. But they also found other materials being wasted for which no need in the department existed. These they put on exhibit. They invited other departments to come and look at the exhibit, to see whether they might use some of the waste matter Representatives of other departments came. Many new uses of wasted materials resulted A department, for example, asked for cardboard tubes, previously thrown away. It had been paying $7.50 a thousand for similar tubes.

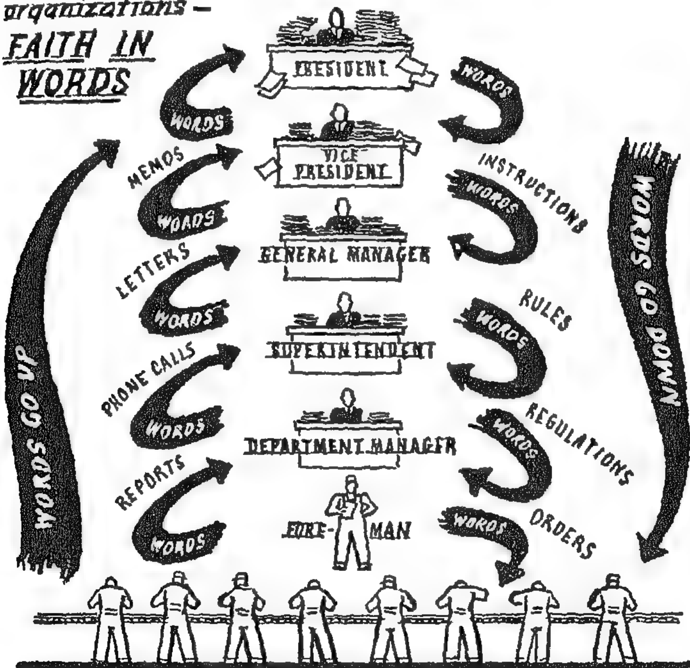
How much more effective is such an exhibit than merely sending around a mimeographed list of waste supplies available! Scores of employees in the department were able, through the exhibit, to visualize what had been accomplished. A physical exhibit is a form of project report that reaches the many. A written report commonly reaches only a few higher-ups.

Sometimes it does not even do that. One high officer who came to see an exhibit of "before" and "after" packing—the way it had been, and the way the employees thought it ought to be—noted an unusually glaring case of poor packing. He said to the department manager. "Didn't you ever report this condition?" The manager replied: "I've been reporting it every year for seven years." He reported it "through the proper channel"—in writing. Nothing happened. The words and the action never got together.

There were two elevators in one plant. One was at the back of the store, one in the middle. Service on the latter was poor. Often the operator would refuse to stop for long periods while he was serving floors above. Then merchandise, destined for the stock room in the basement, would stack up on the main floor of the store. It was most irritating to the manager. The situation was full of tension.

There had been trouble for months. A few days before the problem-centered-group was formed, an employee of the store asked the manager if it would be all right to take the elevator operator and kick his teeth out.

The problem was really a simple one. The trouble was in the "line of authority" system used in trying to solve it. Someone on the floor of the store would complain (in



words) to the operating superintendent. He would then pass the complaint on (in words) to the manager. The manager would then communicate (in words) with the general manager who had jurisdiction over elevators. The general manager would tell the operating superintendent

(in words) "They're having trouble with one of the elevators again down in the store. Better do something about it." The operating superintendent then passed the suggestion to his assistant (in words), who told it (in words) to the manager of receiving, who thereupon relayed it (in words) to the man in charge of the elevators. He looked into it. Nothing happened.

The problem-centered-group, made up of the same men who had taken part in this futile roundabout process, solved the problem in ten minutes. What had happened was nothing but a failure of words to convey information The trouble lay with *one* elevator. The man who finally got the message had been checking up on the other one.

Results of the Problem-Centered-Group in Industry

The following are the most important *operating* results of the application of the method: (a) solving problems better, (b) simplifying and improving operations, (c) speeding the acceptance of changed methods, (d) making trouble-shooting more thorough and systematic, (e) using more fully the accumulated wisdom of work experience. Concerning these operating results a general manager of the firm where the method has been used said: "We are confident that the problem-centered-group method is of inestimable value as a tool in solving operating problems."

The problem-centered-group not only helped to solve problems, but also resulted in valuable *personnel* by-products. (f) generating enthusiasm and raising morale, (g) building confidence, respect, and understanding through direct personal contacts, (h) stimulating and releasing latent powers of men and women, (i) discovering and developing leadership from within; (j) building genuine manager-worker teamwork inside the organization.

"Attitudes" have to do with relations of persons to each other, their feeling for each other. If fear, suspicion, and hostility exist, then attitudes are tense and strained. If frankness, openness, and confidence exist, then attitudes are more satisfactory. Attitudes are by-products. They are the indirect results of direct relations between people For a "superior" to say to an "inferior". "Your attitude is wrong, I want to change it!" only makes the attitude worse. The situation becomes still more strained and tense, rather than less so. It is like telling a person to stop blushing—it only makes him blush more.

Persons who have been consulted will have a different attitude than if they had been ignored Concerning the problem-centered-group method, a manager said. "Probably the greatest result of this project has been the enthusiasm created in our rank-and-file employees by bringing them into some of the problems of management. They now have a feeling of importance in that they have helped solve problems which were baffling the management. This enthusiasm and feeling is noticeable in improved morale and better quality of work."

Likewise, a person who consults others will have a different attitude from one who has imposed his will arbitrarily. To the extent the problem-centered-group is applied there will be more of a feeling of "*we*" as against "*boss versus employee.*"

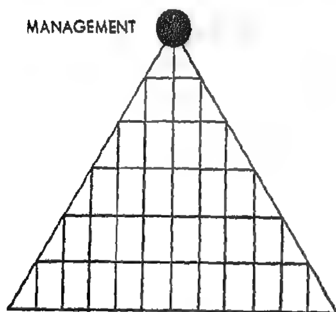
The application of the problem-centered-group method goes beyond the Western Electric project, referred to in the beginning of the chapter. The basic purpose of the Western Electric project has come to be to adjust the worker, through interviews, more happily to the system. The problem-centered-group method adjusts the system more to the human being, who is by nature a social being eager to participate.

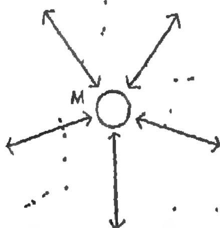
Consider the organizational implications of the problem-

centered-group. Hierarchy, as a system, is probably rooted in the concept of the universe that prevailed before Columbus discovered America. The earth was flat, with heaven above, hell below. Such being the world view, an organizational system based on "upness" and "downness" was quite natural. We have changed the world view. We still have the system.

Hierarchical organizational structure is usually based on too much verbalism; the method of exhortation. The various examples given show that such a system of "upness" and "downness" is not efficient Words moving down telling those at the scene of action what to do, do not tell all, they do not tell it sharply and accurately.

GRAPHIC SUMMARY OF CHAPTER 9





Hierarchical (Split) Organization Line and level organization—false to living, mechanistic The internal structure is wrong, not the size of the firm so organized Decision making (upper level) largely detached from concrete work-experience (lower levels)

Organic Organization "(Circular" organization—interrelated, interacting, integrated, seemingly much more complicated than the falsely simple kind shown on the left Actually much simpler because it is natural, it conforms to the needs of the human beings involved Decision making, planning, all inseparably related to work experience Management is more in the "center"

If, however, problem-centered-groups were built within large organizations, we would gradually modify hierarchy from top down to one wherein the management would be within—more from center out. This implies that organiza-

tions would be multiple-centered, and based less on exhortation from the faraway top

Problem-centered-groups are "circles" within a line organization. They stimulate circulation. Circulation is essential to health, vigor, alertness and adaptability to change, both in a human body and in an organization of men and women When circulation is low in a human body, we get stiff joints, slow movement, sluggish thinking, hardening of the arteries, etc. Similar things happen when circulation is low in a large organization.

Problem-centered-groups help to "streamline" an organization. They make it more efficient. *But they create more than efficiency. They create satisfaction in employees as well as a more democratic social structure.* Thus it is possible to combine efficiency and democracy; a reconciliation which has been one of the most difficult problems of democratic society.

In the previous chapters, we have seen how the problem-centered-group will generate action in the community, how in government it sets up opportunities for citizen participation, how in education it creates situations where children will have the direct experience of democratic acting and thinking; how in art and leisure it is a factor for creative recreation, how in journalism it evolves types of newspapers that are related to action and are based on participation; how it stimulates group self-help activities; how it creates situations where co-operation between managers and workers takes place. *The systematic building of such groups is a means of democratizing existing institutions.*

Obviously these are only a few examples indicating the application of the method at present and the possibilities of further application. Doubtless you can see many applications in connection with your work and activities. Whole

institutions of modern life are based on its principles. The great laboratories of corporations and research organizations, where scientific work is the result of co-operation, are replacing the lone inventor in his attic The Consumer Co-operative movement and labor unions have used the method, and may profit by doing so to a greater extent.

The army is another field where the application of the problem-centered-group method has great potentialities. In practical operations, a modern army is partly made up not of individual soldiers as such but of small functional groups. The more efficiently groups are organized around machine guns, antiaircraft guns, tanks, etc, the more effective their operations will be. The systematic development of the psychological potentialities of such a group is a part of the secret of the strength of the Nazi and Russian armies. To some extent we see the same thing in industry, the organization of a group of men around larger machines. One of the best illustrations of highly co-ordinated army units around specific tasks, is the crew of a modern bomber. The romantic solo daredevil is today an obsolete type of fighter. The modern bomber is composed of individuals working and fighting together. They form a highly integrated unit, each having a specific job to do, each fitting into a complex whole.

In Parts I and II the effect of do-democracy and its method on *social relations and problems* was discussed. In Part III the effect of do-democracy and its method on the *participating individuals will be described.*

Today, more than ever, we need mental hygiene, mental and emotional adjustment. Such mental and emotional adjustment depends largely on relationships to our problems and to other individuals A strong current toward mass organization is moving all over the world. Personalities which are thwarted in our machine age find satisfaction and at-homeness in a small group where some of the basic wishes of human beings are satisfied.

PART III

THE EFFECT OF THE METHOD ON THE INDIVIDUAL

Chapter 10

CONCRETE THINKING ABOUT DEMOCRACY

CONCRETE VERSUS ABSTRACT THINKING ABOUT DEMOCRACY

Anyone speaking on the problem of democracy today finds his audience eager, interested, but bewildered. Again and again I have been asked the same questions by different types of groups all over the country "What *is* a democracy? Do we really have one here in the United States? And how about the English? Surely they cannot have a true democracy since they have a king?"

All such questions imply that democracy is an *entity*, like a car, and that one either has it or one does not But if we stop to think, all of us realize that there is no such *thing* as democracy. There are certain practices, attitudes, and processes which we label "democratic" All that can be said is that the United States is more democratic than England, for it has more of such practices, attitudes, and processes. These legal practices, like elections and trial by jury, and attitudes, like tolerance and fraternity, and processes, like co-operation and discussion, are the component factors which make up what we call "democracy." They are not abstractions, they can be actually seen, heard, and experienced

When a member of the audience asks, "You speak of

democracy all the time. Just what do you mean by it? Define it for us, please," I answer by saying, "Instead of defining, let me *show* you what I believe democracy involves. Just look around this group sitting here in a friendly atmosphere discussing some problems Here we can *see* democracy in operation, here we can find its meaning. This is an example *showing* the meaning of democracy, not a wordy definition, subject to endless quibbling I have pointed with my finger to an actual situation involving values which are usually thought of as abstract and faraway.

This approach breaks down a general and highly abstract term into more specific meanings. Why must we try to do this in our thinking? *Because if we think in terms of specific problems and solutions rather than general ideas, we will use language which refers to something which can be experienced.* Those who cannot rid themselves of the notion of democracy as an abstract ideal are caught in a hopeless maze of verbalism. This kind of thinking hardly fosters the practical outlook on our social world which we so desperately need

This book shows that instead of talking about democracy, we must face those problems that democratic life involves. We must avoid vague and big words, like "Democracy" with a capital "D," since they do not refer to actualities. Instead of relating ourselves to *ideas*, by preferring "Democracy" to "Fascism," we must relate ourselves to immediate *situations* in which action is possible. We must go beyond verbal abstractions and keep in mind actuality: neighborhood A, neighborhood B, problem 1, problem 2, etc.

Democracy as an abstract idea is not a fact but a concept of the mind Abstractions do not exist in experience, and practical thinking—which makes action possible—must be in terms of particular problems Such a breaking

up of the concept of democracy into specific terms makes concrete orientation toward a world of facts (not ideas) possible.

It is one thing to talk about democracy in your living room, and it is another to meet with others in an attempt to deal with certain problems that exist in your firm or community which demand democratic solution. In the living room case you respond to and deal with *words* (Democracy, New Deal, Fascism, etc.). In the latter case you deal with your actual *environment*, with John, Bill, and Joe, an environment which can be changed by your action and that of John, Bill, and Joe.

A transition from an abstract conception of democracy to a concrete and specific one will make do-democracy possible, and thus democracy will cease to be a mere word and become an experience *Since democracy will assume a concrete meaning, we will be able to see how it is possible to do something about it, rather than just talk. The results of concrete thinking will not only lead to action, but also to adjustment for the individual.*

Concrete Thinking Makes Action Possible

By breaking down the concept of democracy into specific terms and problems, we will be able to relate its meaning to daily life. There tends to be a dualism between our ideological and daily life. On the one hand we are apt to preach and believe in Christianity, justice, democracy, and liberty; on the other, we tend to live as if we did not believe in them. Such behavior is well illustrated by a story William James tells about a sentimental Russian lady who, by the fire of her room, talks about human love and weeps over the cruelty of the world, while her coachman, whom she left outside, freezes to death in the winter cold. Unless and until we can translate our ideals into

daily practice, we will not be able to achieve a better society, and attain the satisfaction that comes from acting according to one's ideals. Theory and practice, words and acts, must be related in order to avoid the futility of verbalism and the frustration that comes from it.

Why is it that it is usually the businessman who gets things done? Is it not because he does not talk in abstract terms, does not argue about principles, but faces the facts of a given situation or problem? Perhaps the expression "getting down to business" originated from the practice of businessmen of facing their problems realistically. Why is it that so many "idealists," reformers, and intellectuals fail to get things done? Is not the reason for their failure due to the fact that they tend to think and talk in terms of abstractions and vague generalizations? Their gaze is turned toward heaven, and they dwell within the realm of words. Instead of looking at the situation at hand, they tend to get wrapped up in words. Words to them become substitutes for acts; dreams, substitutes for reality.

Some of us tend to believe that the verbal world has more reality than the world that can be seen and touched The belief that words as such have power over things is the essence of primitive word magic A word is often used among the primitives when it can produce an action and not describe one. The external world is viewed as passive and malleable to human wishes. This magical approach lacks an understanding of the real control of means and ends, it does not recognize a causal sequence in the world. The primitive believes that prayer, the uttering of magic words, will cure a sick person, he does not recognize the fact that there is no causal relation between any words and disease.

Talk-democracy likewise assumes that words themselves are sufficient to create a good society. Persons like Louis, of whom we talked in Chapter 2, believes, like the primi-

tive man, in word magic He does not see that the realization of his wishes is only possible at the cost of effort directed toward changing the external world. He blinds himself to the hindrances of reality, and, like a child, tends to regard his desires as realized immediately in their conception. Louis indulges in word magic when he believes that by uttering words against Hitler or by talking highly of democracy, he has accomplished something effective.

Vague talk and dreaming will not get us anywhere, only specific acts by which we can gradually get from where we are to where we want to be. *There is no way of modifying the shape of the social world except by attending to concrete situations which are under our control, which we can affect.* A realistic and practical person like John, also mentioned in Chapter 2, is well aware of this fact.

The more concrete our thinking is, the easier will action be. There cannot be over-all solutions for our problems. To deal with generalities is easy; it does not require hard practical thinking. Hence many talk about the farm problem, the school problem, the manpower problem and other general problems. Such generalizing leads us to search for falsely simple answers The answer cannot be found, because the general problem does not exist. What does exist is a maze of interrelated problems, which implies the necessity of concrete thinking about each one, so that individual answers may be found.

Concrete Thinking Leads to Adjustment

Facing and dealing with concrete problems will have a profound influence on our personalities. William James well expressed this point when he said: "When a resolve or a fine glow of feeling is allowed to evaporate without

bearing practical fruit, it is worse than a chance lost; it works so as positively to hinder future revolutionary emotions from taking the normal path of discharge" James goes on to say that every good that is worth possessing must be paid for in stakes of daily effort. The same idea has been expressed somewhat differently by John Dewey, who said: "Until one takes intermediate acts seriously enough to treat them as ends, one wastes one's time in an effort at change of habits. Of the intermediate acts, the most important is the next one. The first or earlier means is the most important end to discover."

Applying this to do-democracy, intermediate acts are the specific problems which have to be met. It might be less "heroic" to deal democratically with a problem of adjusting human relations in one's place of business, or in the school one's son attends, or to participate effectively in civilian defense, than it is to try to reform society as a whole all at once. But we must realize that the only way to breed a horse is little by little; the only way to make democracy work is for each of us to cultivate his own garden.

By relating ourselves to concrete situations, we can achieve personal adjustment Modern psychiatry has shown that maladjustments often arise out of our inability to live in the present fully and creatively. Lack of adjustment is often the result of yearning after the infinite. What psychiatrists call "free floating anxiety" is produced by a lack of contact with life in its everyday aspect. As an example, it might be pointed out that the reason why one finds a high frequency of neuroses among the younger members of the "leisure class" is because these young people usually do not have much contact with real life, and have no concrete interests and duties. Some of these persons recognize the value of having something definite to do, and take jobs. They do not need the income from

them, but they feel, and their psychological insight is correct, that a job will keep them occupied, and force them to face concrete problems that arise out of working and coming into contact with other people. Those who live in a dream world are likely to be slaves of their passions and moods, since external reality—regularity, punctuality, duty, responsibility, necessity of facing problems, etc.—does not bind them.

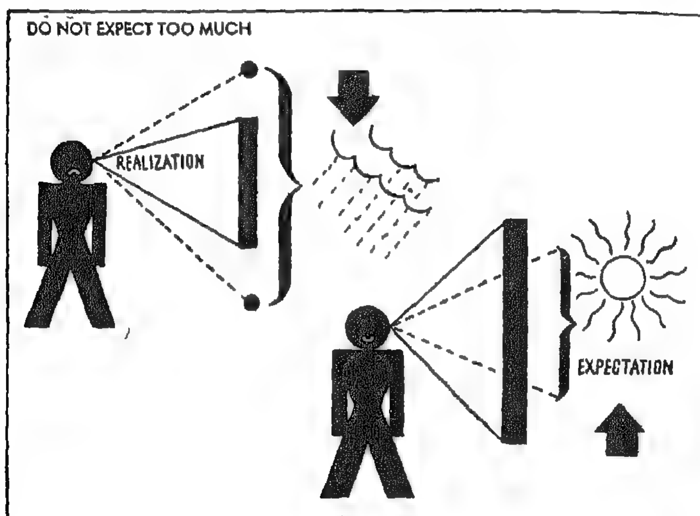
Gordon Allport, in his book *Personality*, states that the extension of the self may be said to be the first requirement for the maturity and adjustment of a person What Freud calls "object orientation" (relating oneself to the outside world), Jung, "extraversion" and Alfred Adler "social feeling," is the key to sanity. Allport goes on to say that: "Without a shadow of doubt psychology in the past twenty years had more interest in these traits (extraversion and intraversion) than in any other."

The whole aim of psychoanalysis can be summarized by stating that it strives to strengthen the "ego," which is that part of the personality through which we relate ourselves to the external world. Many disruptions of personality are due to the individual's withdrawal into an inner world. The function of reality is to reduce this tendency toward daydreaming.

Extraversion; preference and ability to relate ourselves to, and participate in the outside world, is encouraged when an individual concentrates upon concrete problems. His chances of happiness and effective living will increase with his ability to do so John is a much more adjusted and integrated person than Louis One difference between a mature person and an immature is the ability of the former to face reality and do something about it, while the latter is only able to dream, brood, and condemn.

To limit one's desires and aims is the secret of happiness and success. Unless our energies are directed toward com-

patible and attainable ends, life is dwarfed. Happiness and adjustment are determined to a great extent by the relation of our expectations to their realization. Disillusionment is directly related to the magnitude of illusions. The man who expects to make $5,000 a year and makes only $3,000 is a "failure" in his own eyes. The man who expects to make $2,000 and makes $3,000 is a "success."

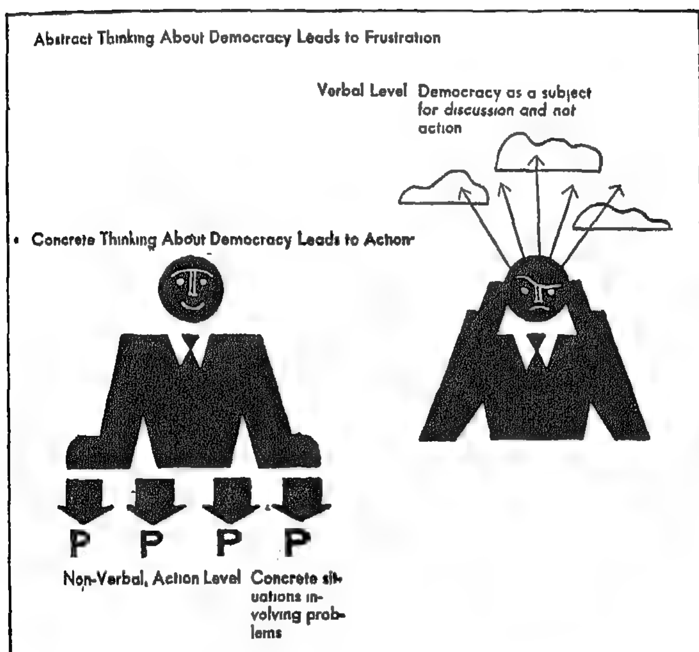


Pessimism is often the result of a contradiction that exists between the ideals we have in our minds about the world, and the world as it really is. A person who has a vision of a perfect society, and also sees how imperfect society really is, will be unhappy and maladjusted because of his helplessness in the face of what he thinks are insurmountable obstacles to the realization of his dreams.

When our aspirations to do something are high and we cannot find an outlet we will become discouraged. An individual's insecurity is proportional to what he can do about a given problem. He will usually react aggressively

when he thinks that he is not in control of the situation. When he cannot find something to do, frustration results. When what he does does not appear to be significant, or when he does something and nothing comes of it, the result is the same.

GRAPHIC SUMMARY OF CHAPTER 10



If we think too much in terms of general ideas and problems, we will be overwhelmed by the bigness of problems and will be frustrated because of our inability to do something about them directly. *That is why it is important to concentrate on specific problems on which our energies will not be wasted.* Once we do not attempt too much, nor that too quickly, and realize, as John does,

that this world is not a kindergarten, and that, while we cannot change it overnight, we can make ourselves useful and significant in specific situations, action, as well as the adjustment that comes from action, will result.

Chapter 11

THE INDIVIDUAL IN THE PROBLEM-CENTERED-GROUP

The Related Individual

The human self is the result of action and communication in society. Man is not born human, he becomes human through social intercourse Without social intercourse and experience, men would be animals. If a group of children were reared by apes, they would grow up totally uncivilized If the human race were to lose all its social traditions and knowledge, men could not communicate with each other since they would have no language. Without communication, there cannot be any social organization. People would wander around in hordes and would be subject to starvation and disease.

Individuals live in society, and society exists through them. Individuals are real, but they become real through associations with others. Man is not a detached unit, but a living being related to the whole of society. *We are not atoms in a void, but parts of society in which we express ourselves and find release and satisfaction.* In the process of living together individuals find their place in society. When they are no longer able to organize their lives for the affirmation and progressive realization of their selves, they become disorganized Such is the fate of many today, who no longer belong and find their places.

In Chapter 1, we have seen the frustrating effects of modern life. Many of us lack the feeling of belongingness, without which men are adrift. Today we live in an atomis-

tic society. Types of relationships that are mutually satisfactory exist in a sadly limited way. Detachment leads to insecurity, insecurity leads to emotional unbalance Movements like Nazism are caused to a great extent by the willingness of lonely and maladjusted persons to follow a leader, in order to throw off the oppressive feeling of isolation and lack of belongingness.

We are confronted with the task of preventing insecurity, frustration, and maladjustment in modern society. The need for social therapy is so great and the number of trained psychiatrists is relatively so small that it seems poor judgment to have them devoting so much of their energy to individual therapy. The situation is much as it would be in the automobile industry if there were relatively few trained automotive engineers and if these concentrated mainly on salvaging individual wrecked or badly used cars.

The demand for psychiatric service is far ahead of supply Only a portion of the patients can be treated What happens to those who do not get the needed treatment? An outstanding psychiatrist answers.

Some whose mental disorders are curable, when neglected, become incurable. Some live at public expense in mental hospitals, penal institutions, or on relief rolls. Some drag along unhappy lives, producing foci of emotional infection wherever their lives lead them into close relationships with other persons. The neurotic mother rears a "nervous" or delinquent child The child involves his schoolmates in delinquency, and later married, a new neurotic family with new mental disorders continues the vicious sequence "unto the children's children."

We must shift the emphasis from therapy to prevention. The big problem before us is to treat a neurotic society, not just sick individuals here and there. Situations must be created where integrated, wholesome living together

is possible. Such living has the power to overcome frustrations, remove fears, and release creative powers.

Freedom for Versus Freedom from

Democracy based on participation involves a revised conception of individualism and a positive conception of freedom. These can do much to reduce insecurity and maladjustment in the modern world.

It is a mistake to talk about the antithesis of man and society Such a dichotomy leads to an either-or trap by forcing us to choose between rugged individualism and collectivism. Collectivism commits the mistake of ignoring the individual, rugged individualism, on the other hand, disregards society. If individuality and freedom are suppressed, life as we understand it is impossible, if individuality and freedom are exclusively asserted, anarchy will result. *A middle way must be found, which does away with the dichotomy between rugged individualism and collectivism. Related individualism, which views individuals as the result of relations with one another, is such a middle way.*

Society is antithetical to the individual only if its structure is oppressive Rugged individualism has its origin in a reaction against the oppressive feudal order and paternalistic state. Freedom, in the sense of rugged individualism, means emancipation from an oppressive government and social order, it implies freedom *from* restrictions. But such a negative conception of freedom, if carried too far, destroys all organic relations and breaks up all sense of belongingness.

The overthrow of the domination of church and state—the removal of formal limitations—is but a negative condition; it does not *per se* create positive freedom. Freedom must be not only freedom *from* restrictions, for that leads

to isolation and frustration, but also freedom *for* constructive action. Our conception of freedom must not be negative, it must not consist of independence from the world, for to be without a master is not necessarily to be free.

Freedom has also often been thought of merely in the legal sense, as a right But it is more than something that can be taken for granted, or a right that is guaranteed by law. A positive conception of freedom implies freedom *for* the development of the individual. It enables him to secure release and fulfillment of his potentialities in manifold associations with others. Democratic thought has often committed the mistake of thinking in terms of number of votes, and has not paid enough attention to the development of the individual Man must not be treated as an abstraction or as an isolated being.

We are individuals in the fullest sense, not when isolated and alone, but when joined with others in activities which are satisfying. Individuals do not grow in power and stature by themselves, they grow through relationships with others Human beings depend on society, which is regulation and expression at the same time While it puts regulations and limits to the satisfaction of some of our impulses, it is also a source of expression. Most of our greatest joys—love, friendship, response, respect and so forth—are the result of relationships with others.

Human beings crave to belong, a craving which goes deeper than the craving to possess It is love stories, not success stories, that pack the movies The humblest human being wants and needs certain physical things: food, clothing, and shelter. But he wants and needs also certain intangibles communication, feeling of belongingness, esteem, and response Christianity understood the psychological value of relating the individual to others, hence its insistence on altruism and fellowship.

Overemphasis of the individual as such, whether he be

working by himself or haranguing a crowd, tends to develop exaggerated feelings of self-importance. This leads to selfishness Selfishness leads to contention. In genuine teamwork, it is otherwise. A normal individual, in the long run, gets more satisfaction from being a part of something bigger than self, even if it is only a small group, than he does from strutting his ego.

Inability to establish contact with one's fellows leads to a frustrated life. Self-centered individuals are not only usually unhappy but also help to create social disintegration. Recent psychology has shown that human beings develop to the fullest efficiency in co-operative activities. By co-operating with others individuals are able to achieve a sense of belongingness. John has more of this than either Louis or Frank.

The Individual in the Problem-Centered-Group

The bond between the individual and society is indirect; he is bound to society only to the extent that he is bound to other individuals within society. Real belongingness can be felt only in the group—in person-to-person relationships

There is an experiment which is very significant for it proves scientifically the value and effectiveness of the democratic small group. This experiment was conducted with children, but there does not seem to be any reason why the results would not be applicable to adults as well. The investigation was carried on at the Iowa Child Welfare Research Station and was described by Dr. Kurt Lewin in the July, 1938, issue of *The Social Frontier*, under the title: "Experiments on Autocratic and Democratic Atmospheres."

Dr. Lewin remarks that while the term "atmosphere" is vague, "any teacher knows that he will have no dis-

ciplinary difficulties if he can create the right atmosphere." The nature of this atmosphere will determine whether it is conducive to security or insecurity, and will set to a great extent the goals and values of the participating persons.

Three different kinds of atmospheres were set up: democratic, authoritarian, and laissez-faire. The same group of children (ten or eleven years old) were studied in all three different atmospheres, and in different orders of change from one atmosphere to another. In the autocratic atmosphere the leader told the children what to do, with whom to work and how. In the democratic atmosphere all problems of policy were put up to the children to decide. In the laissez-faire atmosphere no direction was given and the leader stood aside from the group

The experiment showed the following results:

1 Hostility manifested among the members of the autocratic group was about thirty times as high as in the democratic group. This was probably due to the greater tension in the autocratic group According to Dr. Lewin, "aggressiveness was not directed openly against the autocrat (toward whom the children were generally submissive) but tended to find an outlet in the easy and less dangerous way of attacking a scapegoat."

2. The autocratic group showed a less stable group structure. In the democratic group, co-operation developed spontaneously, while in the autocratic group co-operative ventures had a tendency to break down rather quickly. The experiment included a change from democratic to autocratic atmosphere In the former, the children were working with considerable conversation between them. After the change to autocratic structure, the conversation died out. Only questions were asked of the leader Children became less active, and when the autocrat left the room, the work which was carried on in

his presence faded away. In the laissez-faire group, co-operative work arises, but "usually disintegrates very quickly into individual undertakings and ends generally in horse-play"

3. The democratic group showed 47 percent more feeling of "We-ness"; the autocratic group 27 percent more feeling of "I-ness."

4. The democratic group was more matter of fact and constructive than the autocratic group.

The same experiment was discussed by Goodwin Watson in the May, 1940, issue of *Progressive Education.* He tells the story of Sarah and Sue. Sarah has been put in the autocratic group where she developed a tendency to dominate others. Sue, who was in the democratic group, was friendly and objective in her responses. Then they were placed in different groups. When put in the autocratic group, friendly Sue became ego-centric and aggressive. Sarah became more co-operative and matter of fact when placed in the democratic group.

The experiment also demonstrated that the laissez-faire group was more like autocracy than democracy. The children had nothing to do, they had no plan to live by. They experienced discomfort and were practically as aggressive as those in the autocratic group. Efficiency was highest in the democratic group where the children were more careful and appreciative. In contrast, minor "strikes" and "sabotage" occurred in the autocratic group.

Watson concludes that: "the boys and girls in the various experiments knew they had been given various leaders, but they did not know the principles upon which the leaders had operated." When interviewed, 95 percent preferred whichever leader had been following democratic procedures

This experiment proves two points: (a) *Democratic groups are most efficient.* Autocracy may look like the

simple and effective way to get quick results, but in the long run it does not pay. This whole volume has been written on the basis of this contention (b) *Persons who participate in democratic groups develop co-operative and objective attitudes.*

In laissez-faire groups the children were aggressive and unhappy because they had nothing to do. Such is also the case with talk-democrats who do not direct their energies toward specific tasks. In the long run, authoritarianism is not only repressive and frustrating to individuals but is also inefficient. In contrast to the two above-mentioned groups, the democratic one is stimulating, and leads to co-operation, initiative, responsibility, and objective attitudes. Participation in such a group enhances the development of integrated personalities.

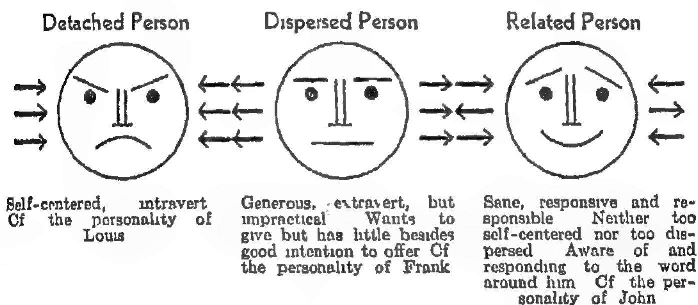
The operation of our mental and emotional equipment depends on the stimuli which arouse activities. The situation created by the problem-centered-group stimulates persons to become outgoing, to participate. The too ingrown, self-centered individual, when placed in such a group, has his attention drawn to the problem, and so away from himself. Thus the problem-centered-group creates an atmosphere where extraversion occurs without effort. Toward a common problem, each person is oriented. "Free-floating anxiety," mentioned in the previous chapter, is diminished as the individual tends to become object (problem) oriented. He becomes somewhat less self-centered, somewhat more outgoing. The dispersed individual, the well-intentioned person, who wants to give to everybody, without having too much to give, becomes somewhat less dispersed when his attention is focused, along with others, on the problem in the "center."

Suppose there is a problem of juvenile delinquency in your community. A problem-centered-group is created to deal with the situation. A detached man, a merchant, is

drawn into the group, because it is to his advantage to do away with stealing. A dispersed individual, a schoolteacher, joins the group because she has the desire to help Another businessman joins because he has been interested in a boys' club in the community.

In the process of facing the problem, the merchant finds that to participate successfully he must give help as well as expect to profit by the results. The schoolteacher finds that she has little to offer in spite of her good will unless she thinks in concrete terms. The other businessman finds that, although he knows about boys' problems, it is necessary for him to invite others who know more about them than he does.

The relationship of this merchant, schoolteacher, and businessman, and others later involved, is only one phase



of the picture. By defining the problem and enlisting the efforts of those involved toward solving it, by redirecting their emotional stress from the persons involved to the impersonal problem, the above persons have not only taken steps toward the solution of the problem, but have improved their relationships and provided a mechanism for the solution of other problems After the initial situation has been met, this mechanism may set off new activ-

ity, which carries into other fields, widening social relationships and creating new combinations of friends and problems.

From a psychiatric point of view, the problem-centered-group has a therapeutic effect on maladjusted individuals, inasmuch as it makes self-centered individuals outgoing and focuses the energies of dispersed persons. This is important in view of the "neurotic personality of our time." Obviously, participation in small groups will not make sane persons out of maladjusted ones overnight, but it does work for better adjustment for the individual. It does help persons to relate themselves to others, to specific problems, and to act as well as talk. *Through such groups, we shall not only harness our latent energies, but also reduce psychological tensions and frustrations, and enable individuals to become more mature* Democracy cannot function except if based on individuals who are capable of acting and thinking in a mature, object-oriented, practical way. On the other hand, such mature individuals need democracy, since they can only live and develop in a free and co-operative society.

CONCLUSION

Today democracy is in mortal danger all over the world. The threat to democracy is not entirely on the military front. There are certain forces within modern society—insecurity, disintegration, centralization, etc.—which tend to make its workings difficult. While we are fighting anti-democratic forces abroad, some of us are losing faith in the workability of our democratic system at home Some critics of democracy point out that it is becoming obsolete, that it cannot meet the issues of our present age, and is bound to be replaced by some kind of managerial society, or technocracy, or state socialism, or some other kind of benevolent bureaucracy. These critics—who are often sincere in their analysis and have to be distinguished from the slander of the Nazis and their fellow travellers—predict the end of democracy even if the war is won The fact that what these critics say is to some extent justified, makes the future of democracy all the more disturbing.

Since many have realized the limitations of traditional democracy in meeting the problems of our time, the solution is seen in an intervening government. Such statism may be benevolent, and in this it differs from dictatorships. But it would mean the end of the American pattern of free society. Whether it would be controlled by business, or labor, or managers, or technicians, or bureaucrats, this would certainly be the case. Statism is a reaction to *laissez-faire*. But the effective answer to *laissez-faire* is not statism but the recognition of the need of integration, which would bring groups together and preserve the system of free enterprise.

No integration is possible unless the various groups in

our country realize that they have to learn to live together if they wish to survive. The fate of labor, business, and other groups under totalitarianism should be a sufficient incentive for these groups to work together voluntarily. Democracy can only function in a society where power is distributed among various groups and changes occur by peaceful means. Authoritarianism is the concentration of power into the hands of one group and changes are repressed by force In a despotic society force radiates from the central seat of power, in a free society, political vitality is diffused throughout the whole of society, as animal heat is developed and maintained in every part of the entire body.

Free society is based on unity and not uniformity It requires groups and individuals living together more or less harmoniously, with none of the groups dominating the others. Such society depends on the activity of its component parts, it is capable of peaceful change and progress. It is based on a pluralistic notion, where different ethnic, religious, political, economic and professional groups live together for mutual advantage A free society encourages differences, for it realizes that diversity is a sign of health, and a society in which there are no varieties is monotonous, stupid and unprogressive.

Tolerance is not what is needed, for it suggests endurance. We must have an appreciation of differences and what they mean in terms of the progress of society Perhaps the greatest contribution of America to civilization has been its inclusive society. Christianity likewise had its strength in its inclusiveness Anybody, no matter how humble in origin, could belong It is dangerous for any society to exclude individuals and groups. They will turn against that society and grasp the first opportunity to destroy it, they will transform it to make a place for themselves.

In a liberal society, individuals and groups are integral parts of the whole of society, not subservient to the state. It is only in such a society, based on many groups, that free enterprize and individual freedom can exist. Only if man can owe allegiance to family, church, profession, etc., instead of exclusive allegiance to the state, will he be free. When the opportunity to be different is taken away from man, he loses his freedom. Freedom exists only in a pluralistic society, where individuals have a choice as to where they shall belong and what they shall do.

Such a society cannot be one where everybody is equal, for freedom means development, and human beings have varying capacities. Some theorists of democracy tended to believe in a society where inequality is abolished, not realizing that in order to achieve this, all people will have to do the same task; and this involves suppressing initiative and abolishing freedom This is also the fundamental implication of some socialistic ideologies. Even if this suppression is exercised, equality will remain a distant dream, for the most repressive policy cannot keep people alike in attainment and capacities. Critics of democracy have revolted against such a conception of equality. On the other hand, many democratic thinkers insisted that inequality would mean hierarchy.

In a free society, equality as well as inequality must exist. Equality must be ethical and legal, but it cannot be actual. Equality of opportunity will inevitably lead to some kind of hierarchy, but such a hierarchy will not be rigid, for there are chances of advancement for all. Further, the important thing about such a society is not that its members are unequal, but that they perform different tasks. Democracy's aim has to be to provide an opportunity for every individual to fulfill his destiny. The result will be a high division of labor, where every individual is

placed to perform the highest that is compatible with his powers.

Groups, especially the smaller ones, will have an important function in preventing movements like Nazism. There is danger in the crowd, it makes propaganda, in the hands of a potential leader, a supreme weapon. The elimination of crowd behavior must be the final goal of democracy This can be accomplished by drawing the potential members of the crowd into vital enterprises, where they will live in groups. Thus the problem of democracy is to keep groups alive and organized. Democracy's success depends on the ability of individuals to think, and that can only occur in an atmosphere where they are not swayed by hysteria, as in the crowd, but are able to congregate in groups to deliberate on vital issues In groups, individuals interchange opinions and ideas. In the crowd no such interchange occurs, for its members do not communicate with one another, they all look up and listen to the leader.

Democracy has been defined as the dictatorship of orators. That is not true, Nazism is the dictatorship of orators But it is true that traditional democracy, the base of which is elections, has tendencies toward oratorical domination. The hold of such domination must be diminished, since its strength is based on irrationality. A revised conception of democracy, based on the method of participation would involve individuals and groups in the activity of the whole of society. In the crowd the individual ceases to exist, in the group he finds expression In an integrated society, the impulses and wishes of people are absorbed and satisfied by the groups of which such a society is composed

The present crisis has one good effect, it compels us to reconsider the methods of democracy Under ordinary conditions we would be just drifting about and muddling through Today, however, we recognize the value of free-

dom and democracy, precisely because we are in danger of losing them. While at the end of the nineteenth century democracy seemed to have been triumphant, today we realize that the battle for it must be fought all over again. To meet the problems of our time, democracy must again take the offensive. Mere anti-totalitarianism is not sufficient, it is too negative. Every crisis our country has undergone in the past has called forth a response sufficient to meet the needs of the situation Democracy today must answer the totalitarian challenge by a rediscovery of itself. The greatest offensive we can start against the dangers of dictatorship is to release the basic forces of our democratic society. That is our secret weapon.

The war may become the midwife of a dynamic democracy, for it necessitates co-operation and action. Today, more than ever, we are ready for action A certain businessman, so the story goes, put up a sign DO IT NOW! Within a few days his secretary eloped, his bookkeeper disappeared with a pay roll, and three department heads asked for raises. Aside from its indicating the power of suggestion, this anecdote illustrates one effect the war is having, and will continue to have, on our lives—acceleration in unexpected ways. Some things that might not have happened will now happen. Some things that might have happened eventually may happen sooner.

A most important lesson of the war has been the refutation of the popular thesis, that the execution of the war requires dictatorship The unity in our country was not attained through the suppression of various groups, but has come about through the voluntary participation of all groups and classes in the common struggle. England also gives us an outstanding example of a country which has been able to wage war effectively under most unfavorable military circumstances, and, in spite of the war, has been able to remain a free and democratic nation. As a matter

of fact England is more democratic today than it was prior to the war with Nazi Germany The bombing of England and the danger of invasion brought people closer together.

The increased co-operation and action in our country today must not be thought of as emergency measures for the duration. They must become permanent features of American life, so that when the war is over they will not evaporate. We get excited about the necessity of co-operation in wartime, and tend to forget its importance when the war is over. But the wartime concern about co-operation and action can be utilized in creating a dynamic democracy which will carry over into the peace.

The postwar world will be full of difficulties for every nation. The last war was followed by revolutions in some countries and chaos in others. The situation under the Weimar Republic was to a great extent typical of the predicament of France, Italy, and even England and the United States. It is reasonable to assume that at the end of the present war, tremendous economic, political and social problems will exist all over the world The war keeps the United Nations, and the various groups within each of these nations, together. It provides unity by furnishing a common purpose. But once the purpose, the defeat of the Axis, is gone, all the suppressed conflicts will come to the fore.

The dangers of chaos will be real even in the United States. There is the menace that the complexity of our society will be reinforced by a postwar crisis, and the consequent disintegration and insecurity will lead to the emergence of a leader. It must not be forgotten that a similar situation occurred after the last war when Huey Long appeared on the American scene. If at that time American society had not been stabilized to some extent and the people given a new faith by the New Deal, and if

Huey Long had not been assassinated, it is not impossible that authoritarianism would have spread all over the United States.

The experience of postwar Germany teaches us that people confronted with a choice between, on the one hand, liberty with accompanying insecurity, and on the other, the hope of security, will forfeit the former In a situation of insecurity and disintegration many persons will become tired of freedom and will exclaim "Tell us what to do!" The answer of the leader will run like this: "You are a people who do not know its own mind; you are confused, trust in me and I will lead you into paradise!"

It is precisely because of the possibility of such a danger that it is essential that wartime co-operation and dynamics should not cease on the day of the armistice A well-integrated society acts as a shock absorber to crises.

Do-democracy will accelerate the creation of a dynamic democracy. It is not based on slogans or outbursts of enthusiasm which flare up and then quickly die away. Furthermore, the great advantage of a theory of democracy based on participation is that it does not lean toward any "ism" It does not offer a simple "solution" which is the stock-in-trade of Marxists, Socialists, technocrats, etc., who put their faith in abstract formulas and try to squeeze social, economic and political processes into the pattern of blueprints.

The proposed conception of democracy is a meeting ground for all· labor, business, professions, and other groups and classes. It is very important for the future of our society that we find ways and means to bridge some big gaps that now exist between government and business, capital and labor, business and social work, schools and jobs, officials and citizens, etc Do-democracy is based on the belief, shared by Eric Johnston, that the "areas of agreement" are wider than the areas of disagreement, and

that the area of disagreement can be whittled down by consultation and discussion.

This book is written in the belief that the criticism of democracy is true of our traditional democratic ideology But the fundamental assumptions of democracy and its ultimate aim is not affected either by changing social forces or by the critics. The basic problem is not that of replacing democracy by some other fundamental principle, but that of readjusting it The *ends* of democracy are permanent, its *methods* must vary with the requirements of the times. Democracy is bound to fail unless it is able to adapt itself to changed conditions. If we extend it successfully in education, government, industry, and other areas of living, it will continue to be the guiding principle of our society. The most effective way to combat disintegration and inaction is to practice democracy around our corners—not for altruistic reasons alone, but because in this direction lies the enlightened self-interest of every one of us.

Do-democracy is a partial answer to some of the problems of our complex society It is not a cure for all But it will enable us:

To reduce the stress on the legal aspects of democracy, voting and parties.

To reduce the formalism of our present democracy by stressing the importance of human relations rather than administrative procedures and parliamentary rules of order.

To reduce the verbalism of present-day democracy by showing how words may be translated into action.

To transform hierarchical organizations into more democratic ones, and empty-shelled institutions into living organisms.

To reduce the abstractness of our present democratic

thought by stressing the importance of thinking in terms of concrete situations

To reduce the negativeness of present-day democracy by making participation possible for a great number of people.

To solve many practical problems in various fields of human endeavor.

To bring together people and thus help to create integration.

To release the energy of which man is capable.

To help to create adjustment for the individual by relating him to other persons.

The problems of democracy are plain everyday problems. Do-democracy is a way by which these problems can be met, it is a way by which our daily life becomes creative. No one can honestly say. "There is nothing for me to do." The real fifth column of a country are the citizens who merely talk about democracy but do not act and encourage others to act democratically. Democracy, whether in war or peace, is a continual struggle, the non-combatant is a deserter.

In a land like ours, famous for its practical outlook, there is a tremendous let's-do-something-about-it attitude. If this can be transformed into action, our democracy will be more dynamic, it will be able to face more effectively the problems of the war emergency and the problems that peace will bring.

This volume has tried to tell how this attitude can be transferred into action in many fields of modern life Most important, however, *its aim is to help those who talk, to act; to help those who want to act, but do not know how, to find methods of action, and to help those who act, to act more efficiently.*

This volume ends, it cannot be concluded It is you who can conclude it—by action—by becoming more of a do-democrat.

SELECTED BIBLIOGRAPHY

Nature of Modern Society

ALEXANDER, FRANZ *Our Age of Unreason.* Philadelphia J. B. Lippincott Company, 1942.

DURKHEIM, EMIL. *On the Division of Labor in Society* New York· The Macmillan Company, 1933.

FREUD, SIGMUND *Civilization and Its Discontents.* London Hogarth Press, 1930.

FROMM, ERICH *Escape from Freedom.* New York· Farrar & Rinehart, Inc , 1941.

HORNEY, KAREN *The Neurotic Personality of Our Time.* New York W. W Norton & Company, 1937.

LASSWELL, HAROLD D *World Politics and Personal Insecurity.* New York Whittlesey House, 1935.

MANNHEIM, KARL *Man and Society in an Age of Reconstruction* New York· Harcourt, Brace and Company, Inc , 1940.

MAYO, ELTON. *Human Problems of an Industrial Civilization* New York. The Macmillan Company, 1933.

MUMFORD, LEWIS. *Culture of Cities.* New York. Harcourt, Brace and Company, Inc., 1938.

OGBURN, WILLIAM F. *Social Change.* New York The Viking Press, 1937.

SPENGLER, OSWALD. *The Decline of the West.* New York. Alfred A. Knopf, 1939.

TAWNEY, R. H. *The Acquisitive Society.* New York Harcourt, Brace and Company, Inc , 1920.

TONNIES, FERDINAND *Fundamental Concepts of Sociology.* New York American Book Co , 1940.

The Crisis of Democracy

ABEL, THEODORE *Why Hitler Came Into Power* New York: Prentice-Hall, Inc., 1938.

BECKER, CARL. *Modern Democracy* New Haven· Yale University Press, 1941.

BURNHAM, JAMES. *The Managerial Revolution* New York· The John Day Company, 1941.

DEWEY, JOHN. *Freedom and Culture.* New York. G. P. Putnam's Sons, 1939.

——. *Liberalism and Social Action* New York. G. P. Putnam's Sons, 1935.

DRUCKER, PETER. *The End of the Economic Man.* New York: The John Day Company, 1939.

HUTCHINSON, WILLIAM T. (ed.). *Democracy and National Unity* Chicago· The University of Chicago Press, 1941.

KOHN, HANS. *Force or Reason.* Cambridge· Harvard University Press, 1937.

LEDERER, EMIL *State of the Masses.* New York W W. Norton & Company, Inc , 1940.

LERNER, MAX. *It is Later Than You Think.* New York The Viking Press, 1938.

MERRIAM, CHARLES E. *What is Democracy* Chicago· The University of Chicago Press, 1941.

MORRIS, CHARLES W. *Pragmatism and the Crisis of Democracy* Chicago. The University of Chicago Press, 1934.

MOWRER, EDGAR ANSEL *Germany Puts the Clock Back* England: Penguin Books, Limited, 1938.

ORTEGA, JOSÉ Y GASSET *Invertebrate Spain* New York W. W. Norton & Company, Inc., 1937

SCHUMAN, FREDERICK L. *The Nazi Dictatorship* New York· Alfred A Knopf, 1935.

Programs for Democracy

BINGHAM, ALFRED M. *The Techniques of Democracy.* New York Duell, Sloan & Pearce, Inc , 1942.

BODE, BOYD H. *Democracy as a Way of Life.* New York: The Macmillan Company, 1937.

FOLLETT, MARY P. *Creative Experience.* New York: Longmans, Green and Company, 1924.

FOLLETT, MARY P *Dynamic Administration.* New York Harper & Brothers, 1942.

——. *The New State.* New York: Longmans, Green and Company, 1926.

GOLDEN, CLINTON S., and RUTTENBERG, HAROLD J *The Dynamics of Industrial Democracy.* New York. Harper & Brothers, 1942

HOPKINS, L. THOMAS. *Interaction—The Democratic Process* Boston D. C Heath and Company, 1941

LILIENTHAL, DAVID E. *TVA—Democracy on the March.* New York· Harper & Brothers, 1944.

TEAD, ORDWAY *The Case for Democracy.* New York· Association Press, 1935.

——. *Creative Management.* New York: The Woman's Press, 1935

——. *New Adventures in Democracy* New York. Whittlesey House, 1939.

WILSON, M. L *Democracy Has Roots.* New York. Carrick and Evans, 1939.

The Group Method

BAXTER, BERNICE and CASSIDY, ROSALIND *Group Experience.* New York. Harper & Brothers, 1943

BUSCH, H. *Leadership in Group Work.* New York: Association Press, 1934.

COLLINS, A. H *Methods in Groups Work.* New York. The Woman's Press, 1938

COYLE, GRACE L *Studies in Group Behavior.* New York· Harper & Brothers, 1937.

ELLIOT, H. S. *The Process of Group Thinking.* New York Association Press, 1926.

HENDRY, CHARLES E., and JOHNS, RAY E. *Group Work Affirmations and Applications* New York Associated Press, 1940.

KILPATRICK, WILLIAM HEARD *Group Education for a Democracy* New York. Association Press, 1940.

LEIGH, ROBERT D. *Group Leadership.* New York W. W. Norton & Company, Inc., 1936.

LIEBERMAN, JOSHUA (ed) *New Trends in Group Work* New York Association Press, 1938

LINDEMAN, EDUARD C, and HADER, JOHN J. *Dynamic Social Research.* New York: Harcourt, Brace and Company, Inc, 1933.

LIPPITT, RONALD. *An Experimental Study of Authoritarian and Democratic Group Atmospheres.* University of Iowa Studies in Child Welfare, Iowa City. University of Iowa Press, 1940.

SHEFFIELD, A D. *Creative Discussion* (rev. ed). New York. Association Press, 1933.

SLAVSON, S. R *Creative Group Education.* New York Association Press, 1937.

WALSER, FRANK. *The Art of Conference.* New York. Harper & Brothers, 1933.

INDEX